: ज्ञानद्रव्यसे लाभार्थी :

कच्छ वागड समुदायवर्ती
पूज्य साध्वीजी मयूरकलाश्रीजी म.सा.की
प्रेरणासे

शा. विमलाबेन सरेमलजी बेडावाला
आराधना भवन-श्राविका उपाश्रयकी
ज्ञानद्रव्यकी उपजसे

JSBN code
ASHAP0004

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१८]

योग शास्त्र

[गाथा और अर्थ]

—: प्रकाशक :—
श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
साबरमती, अहमदाबाद

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१८]

योगशास्त्र

[गाथा और अर्थ]

कर्ता :— कलिकालसर्वज्ञ पू.आ.हेमचन्द्राचार्य

अनुवादकर्ता :— पू.पं. पद्मविजयजी म.सा.

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-380005

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशन : संवत २०७६

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से

पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेट...

गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में

७५ रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्स, कैलासनगर, सूरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,
चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१
फोन : 044-23463107 (मो.) 9381096009

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**
Email Id: mishrahemantkumar28@gmail.com

१. प्रथम प्रकाश

नमो दुर्वाररागादि,-वैरिवार-निवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय, महावीराय तायिने ॥१॥

अर्थ - अत्यंत कठिनता से दूर किये जा सके ऐसे राग-द्वेषादि शत्रु गण का निवारण करने वाले अर्हन्त, योगियों के स्वामी और जगत् के जीवों की रक्षा करने वाले श्री श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो ॥१॥

पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि ।
निर्विशेषमनस्काय, श्रीवीरस्वामिने नमः ॥

अर्थ - भक्तिभाव से चरण स्पर्श करने वाले सुरेन्द्र (कौशिक) और दंश देने (डसने) की बुद्धि से चरण स्पर्श करने वाले कौशिकसर्प, दोनों पर समान मन (समभाव) रखने वाले श्री महावीर स्वामी को मेरा नमस्कार हो ! ॥२॥

कृताऽपराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्-बाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥३॥

अर्थ - अपराध करने वाले जीवों पर भी दया से पूर्ण और करूणाश्रू से आर्द्र (गीले) श्री महावीरप्रभु के नेत्रों का कल्याण हो ॥३॥

श्रुताम्भोधेरधिगम्य, सम्प्रदायाच्च सद्गुरोः ।
स्वसंवेदनतश्चापि, योगशास्त्रं विरच्यते ॥४॥

अर्थ - सिद्धान्त रूपी समुद्र से, सद्गुरु-परम्परा से और स्वानुभव से जानकर मैं योग-शास्त्र की रचना करता हूँ ॥४॥

योगः सर्व्वविपद्वल्लीविताने परशुः शितः ।
अमूलमन्त्रतन्त्रं च, कार्म्मणं निर्वृतिश्रियः ॥५॥

अर्थ - योग सर्व-विपत्ति रूपी लताओं के समूह को काटने के लिए तीखीधार वाला कुठार है तथा मोक्ष-लक्ष्मी को वश करने के लिए यह जड़ी-बूटी, मंत्र और तंत्र से रहित कार्मण (वशीकरण) है ॥५॥

भूयांसोऽपि हि पाप्मानः, प्रलयं यान्ति योगतः ।
चण्डवाताद् घनघना, घनाघनघटा इव ॥६॥

अर्थ - प्रचण्ड वायु से जैसे घने बादलों की श्रेणि बिखर जाती है, वैसे ही योग के प्रभाव से बहुत से पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥६॥

क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालार्जितान्यपि ।
प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणिः ॥७॥

अर्थ - जैसे चिरकाल से इकट्ठी की हुई लकड़ियों को प्रचण्ड अग्नि एक क्षण में जला देती है, वैसे ही अनेकानेक भवों के चिरसंचित पापों को भी योग क्षणभर में क्षय कर देता है ॥७॥

कफविप्रुण्मलामर्श, - सर्वौषधि-महर्द्धयः ।
सम्भिन्नस्त्रोतलब्धिश्च, यौगं ताण्डवडम्बरम् ॥८॥

अर्थ – योगी को कफ, श्लेष्म, विष्ठा, स्पर्श आदि सभी औषधिमय महासम्पदाएँ (प्रभावशाली) तथा संभिन्न-स्रोतलब्धि (किसी भी एक इन्द्रिय से सारी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान हो जाने की शक्ति) प्राप्त होना योगजनित अभ्यास का ही चमत्कार है ॥८॥

चारणाशीविषावधि-मनःपर्यायसम्पदः ।
योगकल्पद्रुमस्यैताः, विकासिकुसुमश्रियः ॥९॥

अर्थ – चारणविद्या, आशीविषलब्धि, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान की संपदाएँ, ये सब योग रूपी कल्पवृक्ष की ही विकसित पुष्पश्री है ॥९॥

अहो योगस्य माहात्म्यं, प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन् ।
अवाप केवलज्ञानं, भरतो भरताधिपः ॥१०॥

अर्थ – अहो ! योग का कितना माहात्म्य है कि विशाल साम्राज्य का दायित्व निभाने वाले भरतक्षेत्र के अधिपति श्रीभरत चक्रवर्ती ने भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ॥१०॥

पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि, परमानन्दनन्दिता ।
योगप्रभावतः प्राप, मरुदेवा परं पदम् ॥११॥

अर्थ – पहले किसी भी जन्म में धर्म-सम्पत्ति प्राप्त न करने पर भी योग के प्रभाव से परम आनन्द से नन्दित (प्रसन्न) मरुदेवी माता ने परमपद मोक्ष प्राप्त किया है ॥११॥

ब्रह्म-स्त्री भ्रूण-गो-घात-पातकान्नरकातिथेः ।
दृढप्रहारिप्रभृतेर्योगो हस्तावलम्बनम् ॥१२॥

अर्थ – ब्राह्मण, स्त्री, गर्भहत्या (बालहत्या) और गाय की हत्या के महापाप करने से नरक के अतिथि-समान दृढप्रहारी आदि को योग ही आलम्बन था ॥१२॥

तत्कालकृतदुष्कर्म-कर्मठस्य-दुरात्मनः ।
गोप्त्रे चिलातिपुत्रस्य, योगाय स्पृह येन्न कः ? ॥१३॥

अर्थ – कुछ ही समय पहले दुष्कर्म करने में अतिसाहसी दुरात्मा चिलातीपुत्र की रक्षा करने वाले योग की स्पृहा कौन नहीं करेगा ? ॥१३॥

तस्याजननिरेवास्तु, नृपशोर्मोघजन्मनः ।
अविद्धकर्णो यो 'योग', इत्यक्षर-शलाकया ॥१४॥

अर्थ – जिस मनुष्य के कान 'योग' के ढाई अक्षर रूपी शलाका (सलाई) से नहीं बींधे हैं, ऐसे मनुष्य का जन्म पशु की तरह निरर्थक है । ऐसे व्यक्ति का जन्म ही नहीं होना चाहिए था ॥१४॥

चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्र-रूपं रत्नत्रयं च सः ॥१५॥

अर्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चार पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी है और उस मोक्ष की प्राप्ति का कारण योग है तथा वह योग ज्ञान, श्रद्धा तथा चारित्र रूपी रत्नत्रय रूप है ॥१५॥

यथावस्थिततत्त्वानां सङ्क्षेपाद् विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥१६॥

अर्थ - जो तत्त्व जैसी (यथा) स्थिति में है, उन तत्त्वों के स्वरूप को संक्षेप से या विस्तार से अवबोध को मनीषियों (विचारकों) ने सम्यग्ज्ञान कहा है ॥१६॥

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते ।
जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ॥१७॥

अर्थ - श्री जिनेश्वर भगवान् के द्वारा कथित तत्त्वों में रुचि होना सम्यक्श्रद्धा कहलाती है । वह सम्यक् श्रद्धा निसर्ग से (स्वभावत:) तथा गुरु महाराज के उपदेश से (अधिगम) होती है ॥१७॥

सर्व-सावद्य-योगानां, त्यागश्चारित्रमिष्यते ।
कीर्त्तितं तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा ॥१८॥

अर्थ - समस्त पापयुक्त (सदोष) योगों का त्याग करना चारित्र कहलाता है। यह चारित्र अहिंसा आदि व्रत के भेद से पाँच प्रकार का कहा है ॥१८॥

अहिंसा-सूनृतास्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः ।
पञ्चभिः पञ्चभिर्युक्ता, भावनाभिर्विमुक्तये ॥१९॥

अर्थ - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं और इन पाँचों महाव्रतो में से प्रत्येक महाव्रत पाँच-पाँच भावनाओं से युक्त होता है। ये भावनाएँ मुक्ति के लिए (सहायक) होती है ॥१९॥

न यत् प्रमादयोगेन, जीवित-व्यपरोपणम् ।
त्रसानां स्थावराणां च, तदहिंसाव्रतं मतम् ॥२०॥

अर्थ - प्रमाद के योग से त्रस या स्थावर जीवों के प्राणों का हनन न करना, प्रथम अहिंसा महाव्रत माना गया है ॥२०॥

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते ।
तत् तथ्यमपि नो तथ्यम्, अप्रियं चाहितं च यत् ॥२१॥

अर्थ - दूसरे को प्रिय, हितकारी और यथार्थ वचन बोलना सत्यव्रत कहलाता है । परन्तु जो वचन अप्रिय या अहितकर है, वह तथ्यवचन होने पर भी सत्यवचन नहीं कहलता ॥२१॥

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम् ।
बाह्याः प्राणा नृणामर्थो, हरता तं हता हि ते ॥२२॥

अर्थ - वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना, अस्तेय (अचौर्य) व्रत कहा गया है । धन मनुष्यों का बाह्य प्राण है, उसके हरण करने से उसके प्राणों का हनन हो गया, समझो ॥२२॥

दिव्यौदारिककामानां, कृतानुमतिकारितैः ।
मनो-वाक्-कायतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥२३॥

अर्थ - दिव्य (देव-सम्बन्धी) और औदारिक काम (मैथुन) का मन, वचन और शरीर से करने, कराने और अनुमोदन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है, जो अठारह प्रकार का है ॥२३॥

सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदसत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लवः ॥२४॥

अर्थ - संसार के सारे (सजीव-निर्जीव) पदार्थों पर मूर्च्छा का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है। पास में वस्तु नहीं होने पर भी आसक्ति से मन में विचारों की उथल-पुथल होती रहती है ॥२४॥

भावनाभिर्भावितानि, पञ्चभिः पञ्चभिः क्रमात् ।
महाव्रतानि नो कस्य, साधयन्त्यव्ययं पदम् ॥२५॥

अर्थ - क्रमशः पाँच-पाँच भावनाओं से वासित (अनुप्राणित) महाव्रतों से कौन अव्यय (मोक्ष) पद प्राप्त नहीं कर सकता ? अर्थात् इन महाव्रतों की भावना-सहित आराधना करने वाले अवश्यमेव मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥२५॥

मनोगुप्त्येषणादानैर्याभिः समितिभिः सदा ।
दृष्टान्न-पानग्रहणेनाहिंसां भावयेत् सुधीः ॥२६॥

अर्थ - मनोगुप्ति, एषणासमिति आदानभण्ड-निक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति तथा प्रेक्षित (देखकर) अन्न-जल ग्रहण करना, इन पाँचों भावनाओं से बुद्धिमान् साधु को अहिंसाव्रत को पुष्ट करना चाहिए ॥२६॥

हास्य-लोभ-भय-क्रोध-प्रत्याख्यानैर्निरन्तरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि, भावयेत् सूनृतव्रतम् ॥२७॥

अर्थ - हास्य, लोभ, भय और क्रोध के त्याग (नियंत्रण) पूर्वक एवं विचार करके बोले, इस प्रकार (पाँच भावनाओं द्वारा) सत्यव्रत को सुदृढ़ करे ॥२७॥

आलोच्यावग्रहयाच्ञाऽभीक्ष्णावग्रहयाचनम् ।
एतावन्मात्रमेवैतदित्यवग्रहधारणम् ॥२८॥
समानधार्मिकेभ्यश्च, तथाऽवग्रहयाचनम् ।
अनुज्ञापितपानान्नाशनमस्तेयभावनाः ॥२९॥ (युग्मम्)

अर्थ - मन से विचार करके अवग्रह (रहने की जगह) की याचना करना, मालिक से बार-बार अवग्रह की याचना करना, जितनी जगह की आवश्यकता हो, उतनी ही जगह को रखना, स्वधर्मी साधु से भी अवग्रह की याचना करके रहना या ठहरना, गुरु की आज्ञा से आहार-पानी का उपयोग करना, ये पाँच अस्तेय (अचौर्य) महाव्रत की भावनाएँ हैं ॥२८-२९॥

स्त्री-षण्ढ-पशुमद्वेश्माऽऽसनकुडयान्तरोज्झनात् ।
सरागस्त्रीकथात्यागात् प्राग्रतस्मृतिवर्जनात् ॥३०॥
स्त्रीरम्याङ्गेक्षण-स्वाङ्ग-संस्कारपरिवर्जनात् ।
प्रणीतात्यशन-त्यागाद्, ब्रह्मचर्यं तु भावयेत् ॥३१॥ (युग्मम्)

अर्थ - ब्रह्मचारी साधक, स्त्री, नपुंसक और पशुओं के रहने के स्थान (तथा उनके बैठे हुए आसन या आसन वाले स्थान) का त्याग करे। इसी प्रकार जहाँ कामोत्तेजक या रति सहवास के शब्द सुनायी दें, बीच में केवल एक पर्दा, टट्टी या दीवार हो, ऐसे स्थान में भी न रहे और राग पैदा करने वाली स्त्री-

कथाओं का त्याग करे। पूर्व-अवस्था की रतिक्रीड़ा के स्मरण का त्याग करे। स्त्रियों के मनोहर अंगोपांगों को नहीं देखे। अपने शरीर पर शोभा वर्द्धक श्रृंगार-प्रसाधन या सजावट का त्याग करे और अतिस्वादिष्ट तथा प्रमाण से अधिक आहार का त्याग करे। इस प्रकार इन नव ब्रह्मचर्यगुप्तियों के अन्तर्गत पंचभानाओं द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत की सुरक्षा करनी चाहिए ॥३०-३१॥

स्पर्शे रसे च गन्धे च, रूपे शब्दे च हारिणि ।
पञ्चस्वितीन्द्रियार्थेषु, गाढं गार्ध्यस्य वर्जनम् ॥३२॥
एतेष्वेवामनोज्ञेषु, सर्वथा द्वेषवर्जनम् ।
आकिञ्चन्यव्रतस्यैवं, भावनाः पञ्च कीर्तिताः ॥३३॥ (युग्मम्)

अर्थ - मनोहर स्पर्श, रस, गन्ध, रूप शब्द इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अतिगाढ़ आसक्ति का त्याग करना और इन्हीं पाँचों इन्द्रियों के बुरे विषयों में सर्वथा द्वेष का त्याग करना, ये आकिंचन्य (अपरिग्रह या निर्ममत्व) महाव्रत की पाँच भावनाएँ कही हैं ॥३२-३३॥

अथवा पञ्चसमिति-गुप्तित्रय-पवित्रितम् ।
चारित्रं सम्यक्चारित्रमित्याहुर्मुनिपुङ्गवाः ॥३४॥

अर्थ - अथवा पाँच समिति और तीन गुप्ति से पवित्र बने हुए चारित्र को श्री तीर्थंकर देवों ने सम्यक् चारित्र कहा है ॥३४॥

इर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्ग-संज्ञिकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्त्रो, गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात् ॥३५॥

अर्थ - ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेप-समिति और परिष्ठापनिका-समिति, ये पाँच समितियाँ हैं और तीन योगों का निग्रह करने वाली गुप्ति है, जो मनो गुप्ति, वचन गुप्ति तथा काय गुप्ति के भेद से तीन प्रकार की कही है ॥३५॥

लोकातिवाहिते मार्गे, चुम्बिते भास्वदंशुभिः ।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य, गतिरीर्या मता सताम् ॥३६॥

अर्थ - जिस मार्ग पर लोगों का आना-जाना होता हो तथा जिस मार्ग पर सूर्य की किरणें पड़ती हों, जीवों की रक्षा के लिए ऐसे मार्ग पर नीचे दृष्टि रखकर साधु पुरुषों द्वारा की जाने वाली गति को ईर्यासमिति माना है ॥३६॥

अवद्यत्यागतः सर्वजनीनं मितभाषणम् ।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते ॥३७॥

अर्थ - वचन पर संयम रखने वाले या प्रायः मौनी साधकों द्वारा निर्दोष, सर्व हितकर एवं परिमित, प्रिय एवं सावधानी पूर्वक बोलना भाषासमिति कहलाती है ॥३७॥

द्विचत्वारिंशता-भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैषणा-समितिर्मता ॥३८॥

अर्थ - मुनि हंमेशा भिक्षा के ४२ दोषों से रहित जो आहार-पानी ग्रहण करता है, उसे एषणा-समिति कहते हैं ॥३८॥

आसनादीनि संवीक्ष्य, प्रतिलिख्य च यत्नतः ।
गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा, यत् साऽऽदानसमितिः स्मृता ॥३९॥

अर्थ - आसनादि को दृष्टि से भलीभाँति देखकर और रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर यतनापूर्वक लेना अथवा रखना आदाननिक्षेपसमिति कहलाती है ॥३९॥

कफ-मूत्र-मलप्रायं, निर्जन्तुजगतीतले ।
यत्नाद्यदुत्सृजेत् साधुः, सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥४०॥

अर्थ - साधु जो कफ, मल, मूत्र आदि परिष्ठापन करने (डालने या फेंकने) योग्य पदार्थों को जीव-जन्तु-रहित जमीन पर यतना विधिपूर्वक त्याग (परिष्ठापन) करते हैं, वह उत्सर्गसमिति है ॥४०॥

विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ॥४१॥

अर्थ - मन की कल्पना-जाल से मुक्ति, समभाव में स्थिरता और आत्म स्वरूप के चिंतन में रमणता के रूप में रक्षा करने को पण्डित पुरुषों ने मनोगुप्ति कही है ॥४१॥

सञ्ज्ञादि-परिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम् ।
वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥४२॥

अर्थ - संज्ञादि (इशारे आदि) का त्याग करके मौन का आलम्बन करना अथवा वचन की प्रवृत्तियों को रोकना या सम्यग् वचन की ही प्रवृत्ति करना, वचनगुप्ति कहलाती है ॥४२॥

उपसर्ग-प्रसङ्गेऽपि, कायोत्सर्गजुषो मुनेः ।
स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ॥४३॥

अर्थ - कार्योत्सर्ग (ध्यान) से युक्त मुनि के द्वारा उपसर्ग के प्रसंग में भी शरीर को स्थिर या निश्चल रखना कायगुप्ति (प्रथम) कहलाती है ॥४३॥

शयनासन-निक्षेपादान-चङ्क्रमणेषु यः ।
स्थानेषु चेष्टानियमः, कायगुप्तिस्तु साऽपरा ॥४४॥

अर्थ - सोना, बैठना, रखना, लेना और चलना आदि कार्यो की क्रियाओं या चेष्टाओं पर नियन्त्रण (नियमन) रखना व स्वच्छन्द प्रवृत्ति का त्याग करना, दूसरे प्रकार की कायगुप्ति है ॥४४॥

एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात् परिपालनात् ।
संशोधनाच्च साधूनां, मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥४५॥

अर्थ - उपर्युक्त पाँच समिति और तीन गुप्ति साधुओं के चारित्र-रूपी शरीर को माता की तरह जन्म देने से, उसका परिपालन करने से तथा उसकी अशुद्धियों को दूर करने के कारण व उसे स्वच्छ निर्मल रखने के कारण 'आठ प्रवचन-माता' के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥४५॥

सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम् ।
यति-धर्मानुरक्तानां, देशतः स्यादगारिणाम् ॥४६॥

अर्थ - उपर वर्णित महाव्रत और अष्ट प्रवचन माताएँ सर्वविरतिचारित्र धारण करने वाले मुनीन्द्रों के लिए हैं और

यति (साधु) धर्म पर अति-अनुराग रखने वाले श्रमणोपासकों गृहस्थों के लिए तो देश से (आंशिक) चारित्र होता है ॥४६॥

न्यायसम्पन्नविभवः शिष्टाचार-प्रशंसकः ।
कुलशीलसमैः सार्द्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥४७॥

पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ॥४८॥

अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रतिवेश्मिके ।
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः ॥४९॥

कृतसङ्गः सदाचारैर्माता-पित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥५०॥

व्ययमायोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥५१॥

अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योऽन्याप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन् ॥५२॥

यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ॥५३॥

अदेशाकालयोश्चर्यां, त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्य-पोषकः ॥५४॥

दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः, सौम्यः, परोपकृतिकर्मठः ॥५५॥

अन्तरङ्गारिषड्वर्ग-परिहार-परायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृहीधर्म्माय कल्पते ॥५६॥

अर्थ - १. जिसका धन-वैभव न्याय से उपार्जित हो, २. शिष्टाचार (उत्तम आचरण) का प्रशंसक, ३. समान कुल-शील वाले अन्य गोत्र के साथ विवाह करने वाला, ४. पापभीरु, ५. प्रसिद्ध देशाचार का पालक, ६. किसी का भी अवर्णवादी नहीं, विशेषकर राजादि के अवर्णवाद का त्यागी, ७. उसका घर न अतिगुप्त हो और न अति प्रकट तथा उसका पड़ौस अच्छा हो और उसके मकान में जाने-आने के अनेक द्वार न हों । ८. सदाचारी का सत्संग करने वाला, ९. माता-पिता का पूजक, १०. उपद्रव वाले स्थान को छोड़ देने वाला, ११. निंदनीय कार्य में प्रवृत्ति न करने वाला, १२. आय के अनुसार व्यय करने वाला, १३. वैभव के अनुसार पोषाक धारण करने वाला, १४. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त, १५. हंमेशा धर्मश्रवणकर्ता, १६. अजीर्ण के समय भोजन का त्यागी, १७. भोजनकाल में स्वस्थता रूप से पथ्ययुक्त भोजन करने वाला, १८. धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों का परस्पर अबाधक रूप से साधक अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, साधु एवं दीन-दुखियों की सेवा करने वाला, २०. मिथ्या-आग्रह से सदा दूर, २१. गुणों का

पक्षपाती, २२. निषिद्ध देशाचार एवं निषिद्ध कालाचार का त्यागी, २३. बलाबल का सम्यग् ज्ञाता, २४. व्रत-नियम में स्थिर, ज्ञान-वृद्धों का पूजक, २५. आश्रितों का पोषक, २६. दीर्घदर्शी, २७. विशेषज्ञ, २८. कृतज्ञ, २९. लोकप्रिय, ३०. लज्जावान, ३१. दयालु, ३२. शान्त-स्वभावी, ३३. परोपकार करने में कर्मठ, ३४. कामक्रोधादि अन्तरंग छह शत्रुओं को दूर करने में तत्पर, ३५. इन्द्रिय-समूह को वश में करने वाला, इन पूर्वोक्त ३५ गुणों से युक्त व्यक्ति गृहस्थधर्म (देशविरतिचारित्र) पालन करने के योग्य बन सकता है ॥४७-५६॥

• • •

२. द्वितीय प्रकाश

सम्यक्त्वमूलानि, पञ्चाणुव्रतानि गुणास्त्रयः ।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥१॥

अर्थ - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ऐसे मिलाकर गृहस्थ (श्रावक) धर्म के बारह व्रत सम्यक्त्वमूलक होते हैं ॥१॥

या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥२॥

अर्थ - साधक की देव (अर्हन्त आदि वीतराग) में जो देवत्वबुद्धि, गुरु में जो गुरुत्वबुद्धि और धर्म में शुद्ध धर्म की बुद्धि होती है, उसे ही सम्यक्त्व कहा जाता है ॥२॥

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥३॥

अर्थ - जिसमें देव के गुण न हों, उसमें देवत्वबुद्धि, गुरु के गुण न हों, उसमें गुरुत्वबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि रखना मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व से विपरीत होने के कारण यह मिथ्यात्व कहलाता है ॥३॥

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥४॥

अर्थ - सर्वभाव को जानने वाले, राग-द्वेषादि दोषों को जीतने वाले, तीन लोक के पूजनीय और पदार्थ के यथार्थ

स्वरूप को कहने वाले परमेश्वर देव अर्हन् अथवा कहलाते हैं ॥४॥

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं, शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥५॥

अर्थ – अगर आप में सद्–असद् का विचार करने की चेतना–बुद्धि है, तो ऐसे देव का ध्यान करना, उपासना करना, शरण में जाना और इनके ही शासन (धर्मसंघ) का स्वीकार करना चाहिए ॥५॥

ये स्त्री–शस्त्राक्षसूत्रादि रागाद्यङ्ककलङ्किता ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥६॥

अर्थ – जो देव स्त्री, शस्त्र, जपमाला आदि रागादि सूचक चिह्नों से दूषित हैं तथा शाप और वरदान देने वाले हैं, ऐसे देवों की उपासना आदि मुक्ति को नहीं करती ॥६॥

नाट्याट्टहाससङ्गीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः ।
लम्भयेयुः पदं शान्तं, प्रपन्नान् प्राणिनः कथम् ? ॥७॥

अर्थ – जो देव नाटक, अट्टहास, संगीत आदि राग (मोह)–वर्द्धक कार्यों में अस्थिर चित्त वाले हैं, वे अपनी शरण में आये हुए जीवों को शांत पद रूपी मुक्ति स्थान कैसे प्राप्त करायेंगे ? ॥७॥

महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥८॥

अर्थ – पंच महाव्रत धारण करने वाले, उपसर्गों और परिषहों के समय धैर्य धारण करने वाले, भिक्षामात्र से अपना निर्वाह करने वाले, सामायिकचारित्री एवं शुद्ध धर्म के उपदेष्टा गुरु माने गये हैं ॥८॥

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥९॥

अर्थ – सभी वस्तुओं की चाह वाले, सभी प्रकार का भोजन कर ने वाले, समस्त परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी एवं मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं हो सकते ॥९॥

परिग्रहाऽरम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ? ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ॥१०॥

अर्थ – स्वयं परिग्रह और आरम्भ में गले तक डूबा हुआ, दूसरों को कैसे तार सकता है ? जो स्वयं दरिद्र हो, वह दूसरे को धनाढ्य कैसे बना सकता है ? ॥१०॥

दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते ।
संयमादिर्दशविधः, सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥११॥

अर्थ – दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण–रक्षण करने के कारण ही उसे 'धर्म' कहते हैं । वह संयम आदि दश प्रकार का है, सर्वज्ञों द्वारा कथित है और मोक्ष के लिए है ॥११॥

अपौरुषेयं वचनमसम्भवि भवेद्यदि ।
न प्रमाणं भवेद् वाचं ह्याप्ताधीना प्रमाणता ॥१२॥

अर्थ – पुरुष के बिना कोई भी वचन संभव नहीं होता, यानी असम्भव माना जाता है । कदाचित् ऐसा वचन हो तो भी वह प्रमाण रूप नहीं है क्योंकि वचनों की प्रामाणिकता यथार्थ वक्ता–आप्तपुरुष के अधीन है ॥१२॥

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसाद्यैः कलुषीकृतः ।
स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम् ॥१३॥

अर्थ – मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रतिपादित तथा हिंसा आदि दोषों से दूषित धर्म, संसार में धर्म के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी वह संसार–परिभ्रमण का कारण है ॥१३॥

सरागोऽपि हि देवश्चेद्, गुरुरब्रह्मचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्मः, स्यात् कष्टं नष्टं हहा ! जगत् ॥१४॥

अर्थ – देव यदि सरागी हो, धर्मगुरु अब्रह्मचारी हो और दयारहित धर्म को अगर धर्म कहा जाय तो, बड़ा अफसोस है ! इनसे ही तो संसार की लुटिया डूबी है ॥१४॥

शम–संवेग–निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः ।
लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥१५॥

अर्थ – शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य रूप पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व को भलीभांति पहचान सकते हैं ॥१५॥

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने ।
तीर्थसेवा च पञ्चाऽस्य, भूषणानि प्रचक्षते ॥१६॥

अर्थ – १. जिनशासन (धर्मसंघ) में स्थिरता, २. उसकी प्रभावना (प्रचार–प्रसार), ३. भक्ति, ४. उसमें कुशलता और ५. तीर्थसेवा । ये पाँच उक्त सम्यक्त्व के भूषण (शोभावर्द्धक) कहे गये हैं ॥१६॥

शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
तत्संस्तवश्च पञ्चापि सम्यक्त्वं दूषयन्त्यलम् ॥१७॥

अर्थ – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और उसका गाढ़ परिचय (संसर्ग) ये पाँचों सम्यक्त्व को अत्यन्त दूषित करते हैं ॥१७॥

विरति स्थूलहिंसादेर्द्विविध–त्रिविधादिना ।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः ॥१८॥

अर्थ – स्थूल हिंसा आदि से द्विविध त्रिविध आदि यानी ६ प्रकार आदि रूप से विरत होने को श्री जिनेश्वरदेवों ने अहिंसादि पाँच अणुव्रत कहे हैं ॥१८॥

पङ्गु–कुष्ठि–कुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।
निरागस्त्रसजन्तूनां, हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥१९॥

अर्थ – हिंसा का फल लंगड़ापन, कोढ़ीपन, हाथ–पैर आदि अंगों की विकलता आदि मिलता है । इसे देखकर बुद्धिमान पुरुष निरपराध त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा का त्याग करे ॥१९॥

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥२०॥

अर्थ – जैसे स्वयं को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय

है, वैसे ही, जीवों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, ऐसा विचारकर स्वयं के लिए अनिष्ट रूप हिंसा का आचरण दूसरे के लिए भी न करे ॥२०॥

निरर्थिकां न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि ।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञः, काङ्क्षन् मोक्षमुपासकः ॥२१॥

अर्थ – अहिंसाधर्म को जानने वाला मुमुक्षु श्रमणोपासक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करे ॥२१॥

प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति ।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वीदानेऽपि न शाम्यति ॥२२॥

अर्थ – यह जीव जीने के लोभ से राज्य का भी त्यागकर देता है । उस जीव का वध करने से उत्पन्न हिंसा के पाप का शमन (पाप से छुटकारा) सारी पृथ्वी का दान करने पर भी नहीं हो सकता ॥२२॥

वने निरपराधानां, वायु-तोय-तृणाशिनाम् ।
निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी, विशेष्येत कथं शुनः ? ॥२३॥

अर्थ – वन में रहने वाले वायु, जल और हरी घास सेवन करने वाले निरपराध, वनचारी हिरणों को मारने वाले मांसार्थी में कुत्ते से अधिक क्या विशेषता है ? ॥२३॥

दीर्यमाणः कुशेनापि, यः स्वाङ्गे हन्त ! दूयते ।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ॥२४॥

अर्थ – अपने शरीर के किसी भी अंग में यदि डाभ की जरा-सी नोक भी चुभ जाय तो उससे मनुष्य

दुःखी हो उठता है । अफसोस है, वह तीखे हथियारों से निरपराध जीवों का प्राणांत कैसे कर डालता है ? उस समय वह उससे खुद को होने वाली पीड़ा का विचार क्यों नहीं करता ? ॥२४॥

निर्मातुं क्रुरकर्माणः, क्षणिकामात्मनो धृतिम् ।
समापयन्ति सकलं, जन्मान्यस्य शरीरिणः ॥२५॥

अर्थ – क्रूर कर्म करने वाले शिकारी अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे जीव के समस्त जन्मों का नाश कर देते हैं ॥२५॥

म्रियस्वेत्युच्यमानेऽपि, देही भवति दुःखितः ।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ? ॥२६॥

अर्थ – अरे ! मर जा तूं ! इतना कहने मात्र से भी जब जीव दुःखी हो जाता है तो भयंकर हथियारों से मारे जाते हुए जीव को कितना दुःख होता है ? ॥२६॥

श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ ।
सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च, सप्तमं नरकं गतौ ॥२७॥

अर्थ – आगम में ऐसा सुना जाता है कि प्राणियों की हत्या से रौद्रध्यानपरायण होकर सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवीं नरक में गये ॥२७॥

कुणिर्वरं वरं पङ्गुरशरीरी वरं पुमान् ।
अपि सम्पूर्णसर्वाङ्गो, न तु हिंसापरायणः ॥२८॥

अर्थ – हिंसा नहीं करने वाले लूले, लंगड़े, अपाहिज

(विकलांग) और कोढ़िये अच्छे, मगर सम्पूर्ण अंग वाले हिंसा करने वाले अच्छे नहीं ॥२८॥

हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृतापि हि ।
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥२९॥

अर्थ – विघ्न की शांति के लिए की हुई हिंसा भी विघ्न के लिए होती है। कुलाचार की बुद्धि से की हुई हिंसा कुल का विनाश करने वाली होती है ॥२९॥

अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥३०॥

अर्थ – वंशपरंपरा से प्रचलित हिंसा का भी जो त्यागकर देता है । वह कालशौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस के समान श्रेष्ठ पुरुष कहलाने लगता है ॥३०॥

दमो देवगुरुपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।
सर्वमप्येतदफलं, हिंसा चेन्न परित्यजेत् ॥३१॥

अर्थ – जब तक कोई व्यक्ति हिंसा का त्याग नहीं कर देता, तब तक उसका इन्द्रियदमन, देव और गुरु की उपासना, दान शास्त्राध्ययन और तप आदि सब बेकार है, निष्फल है ॥३१॥

विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥३२॥

अर्थ – अहो ! निर्दय और लोभांध हिंसाशास्त्र के उपदेशक इन बेचारे मुग्ध बुद्धि वाले भोले-भाले विश्वासी

लोगों को वाग्जाल में फंसाकर या बहकाकर नरक की कठोर भूमि में डाल देते हैं ॥३२॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३३॥

अर्थ – ब्रह्माजी ने यज्ञ के लिए स्वयमेव पशुओं को बनाया है, यज्ञ इस सारे चराचर विश्व के कल्याण के लिए है। इसलिए यज्ञ में होने वाली हिंसा हिंसा नहीं होती। यानी वह हिंसा पाप का कारण नहीं होती ॥३३॥

औषध्यः पशवो, वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुनः ॥३४॥

अर्थ – डाभ आदि औषधियाँ, बकरा आदि पशु, यूप आदि वृक्ष, बैल, घोड़ा, गाय आदि तिर्यंच, कपिंजल, चिड़िया आदि पक्षियों का यज्ञ के लिए जब विनाश किया जाता है, तो वे नष्ट हो (मर) कर फिर देव, गंधर्व आदि उच्च योनियां प्राप्त करते हैं अथवा उत्तरकुरु आदि में दीर्घायुष्य प्राप्त करते हैं ॥३४॥

मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या, नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥३५॥

अर्थ – मधुपर्क एक प्रकार का अनुष्ठान है, जिसमें गो वध का विधान है, ज्योतिष्टोम यज्ञ, जिसमें पशुवध करना विहित है, पितृश्राद्धकर्म, जिसमें माता-पिता आदि पितरों के प्रति श्राद्ध किया जाता है, एवं दैवतकर्म, जिसमें देवों के

प्रति महायज्ञ आदि अनुष्ठान किया जाता है, इन सब अनुष्ठानों में ही पशुहिंसा करनी चाहिए, इसके अतिरिक्त कामों में नहीं । अर्थात् इन्हीं कार्यो में विहित पशुहिंसा पाप नहीं है, अन्यत्र पशुहिंसा पाप है ॥३५॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्, वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशुंश्चैव, गमयत्युत्तमां गतिम् ॥३६॥

अर्थ – उपर्युक्त कार्यो के लिए पशुहिंसा करने वाला वेद के तात्त्विक अर्थ का ज्ञाता विप्र अपने आपको और पशुओं को उत्तम गति (स्वर्ग, मोक्ष आदि) में पहुंचाता है ॥३६॥

ये चक्रुः क्रुरकर्माणः शास्त्रं हिंसोपदेशकम् ।
क्व ते यास्यन्ति नरके, नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः ॥३७॥

अर्थ – स्वयं हिंसा करके जिन्होंने हिंसा का उपदेश (प्रेरणा) देने वाले शास्त्र (मनुस्मृति आदि) रचे हैं, वे क्रूर कर्म करने वाले निर्दय दिखने में आस्तिक दिखायी देते हैं, लेकिन वे नास्तिकों से भी महानास्तिक है । पता नहीं, वे कौन-से नरक में जायेंगे ? ॥३७॥

वरं वराकश्चार्वाको, योऽसौ प्रकटनास्तिकः ।
वेदोक्तितापसच्छद्मच्छन्नं रक्षो न जैमिनिः ॥३८॥

अर्थ – बेचारा चार्वाक, जो बिना किसी दम्भ से नास्तिक के नाम से जगत् में प्रसिद्ध है, वो अच्छा है, मगर तापसवेष में छिपा हुआ जैमिनि राक्षस, जो 'वेद में ऐसा

कहा है,' इस प्रकार वेदों की दुहाई देकर वेद के नाम से लोगों को बहकाता है (हिंसा की ओर प्रेरित करता है), वो अच्छा नहीं है ॥३८॥

देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा, घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥३९॥

अर्थ – देवों को बलिदान देने (भेंट चढ़ाने) के बहाने अथवा यज्ञ के बहाने जो निर्दय होकर जीवों को मारते हैं, वे घोर दुर्गति में जाते है ॥३९॥

शमशीलदयामूलं, हित्वा धर्मं जगद्धितम् ।
अहो हिंसाऽपि धर्म्माय, जगदे मन्दबुद्धिभिः ॥४०॥

अर्थ – जिसकी जड़ में शम, शील और दया है, ऐसे जगत्कल्याणकारी धर्म को छोड़कर मन्दबुद्धि लोगों ने हिंसा को धर्म की कारणभूत बता दी है, यह बड़े खेद की बात है ॥४०॥

हविर्यच्चिररात्राय, यच्चानन्त्याय कल्पते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं, तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥४१॥
तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत् पितरो नृणाम् ॥४२॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाऽथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु ॥४३॥
षण्मासांश्छागमांसेन, पार्षतेनेह सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन, रौरवे नवैव तु ॥४४॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति, वराहमहिषामिषैः ।
शशकुर्मयोर्मांसेन, मासानेकादशैव तु ॥४५॥
संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन तु ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन, तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥४६॥

अर्थ – जो हवि (बलि) चिरकाल तक और किसी समय अनंतकाल दी जाने का विधान है, इन दोनों प्रकार की बलि विधि पूर्वक पितरों को दी जाये तो उन्हें (पिता आदि पूर्वजों को) तृप्ति होती है। पितृतर्पण की विधि क्या है ? यह सब मैं पूर्ण रूप से कहूंगा। तिल, चावल, जौ, उड़द, जल, कन्दमूल और फल की हवि (बलि) विधि-पूर्वक देने से मनुष्यों के पितर (पिता आदि पूर्वज) एक मास तक तृप्त होते हैं, मछली के मांस की बलि देने से दो मास तक, हिरण के मांस से तीन महीने तक, भेड़ के मांस से चार महीने तक, पक्षियों के मांस से ५ महीने तक, बकरे के मांस से ६ महिने तक, पार्षत नामक हिरण के मांस से सात महीने तक, रौरवजाति के मृग के मांस से नौ महीने तक, सूअर और भैंसे के मांस से १० महीने तक तथा खरगोश और कछुए के मांस से ग्यारह महीने तक पितर तृप्त होते हैं। गाय के दूध और दूध की बनी हुई खीर की हवि से बारह महीने (एक वर्ष) तक पितर तृप्त हो जाते हैं। इन्द्रियबल से क्षीण बूढ़े सफेद बकरे की बलि दी जाय तो उसके मांस से पितर आदि पूर्वजों को बारह वर्ष तक तृप्ति हो जाती है। पूर्वोक्त ४६ वें श्लोक में श्रुति और अनुमति इन दोनों में से श्रुति बलवती होने से 'गव्येन

पयसा' एवं 'पायसेन' शब्द से क्रमशः गाय का मांस या गाय के मांस की खीर अर्थ न लगाकर, गाय का दूध और दूध की खीर अर्थ ग्रहण करना चाहिए। कई व्याख्याकार पायस शब्द की व्याख्या करते हैं कि मांस के साथ पका हुआ दूध और दूध से बना हुआ दही आदि पायस कहलाता है। अथवा दूध में पके हुए चावल, जिसे दूधपाक या खीर कहते हैं, वह भी पायस कहलाता है ॥४१-४६॥

इति स्मृत्यनुसारेण, पितृणां तर्पणाय या ।
मूढैर्विधीयते हिंसा, साऽपि दुर्गति हेतवे ॥४७॥

अर्थ – इस प्रकार स्मृतिवाक्यानुसार पितरों के तर्पण के लिए मूढ़ जो हिंसा करते हैं, वह भी उनके लिए दुर्गति का कारण बनती है ॥४७॥

यो भूतेष्वभयं दद्यात्, भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।
यादृग् वितीर्यते दानं, तादृगासाद्यते फलम् ॥४८॥

अर्थ – जो जीवों को अभयदान देता है, उसे उन प्राणियों की ओर से कोई भय नहीं होता, क्योंकि जो जिस प्रकार का दान देता है, वह उसी प्रकार का फल प्राप्त करता है ॥४८॥

कोदण्ड-दण्ड-चक्रासि-शूल-शक्तिधरा सुराः ।
हिंसका अपि हा ! कष्टं, पूज्यन्ते देवताधिया ॥४९॥

अर्थ – अहा ! बड़ा अफसोस है कि धनुष्य, दण्ड, चक्र, तलवार, शूल और भाला (शक्ति) रखने (धारण

करने) वाले हिंसक देव देवत्व-बुद्धि (दृष्टि) से पूजे जाते हैं ॥४९॥

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः ॥५०॥
अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।
भवभ्रमिरुगार्त्तानामहिंसा परमौषधिः ॥५१॥

अर्थ - अहिंसा माता की तरह समस्त प्राणियों का हित करने वाली है । अहिंसा ही इस संसार रूपी मरुभूमि (रेगिस्तान) में अमृत बहाने वाली सरिता है । अहिंसा दुःख रूपी दावाग्नि को शान्त करने के लिए वर्षाऋतु की मेघघटा है तथा भवभ्रमण रूपी रोग से पीड़ित जीवों के लिए अहिंसा परम औषधि है ॥५०-५१॥

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फलं सर्वं किमन्यत् कामदैव सा ॥५२॥

अर्थ - दीर्घ आयुष्य, उत्तम रूप, आरोग्य, प्रशंसनीयता, आदि सब अहिंसा के ही सुफल है । अधिक क्या कहें ? अहिंसा कामधेनु की तरह समस्त मनोवांछित फल देती है ॥५२॥

मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥५३॥

अर्थ - समझ में न आये, इस प्रकार के उच्चारण के कारण स्पष्ट बोलने की अक्षमता, तोतलापन, मूकता

(गूंगापन), मुंह में रोग पैदा हो जाना आदि सब असत्य के फल हैं, यह जानकर कन्या आदि के सम्बन्ध में असत्य का त्याग करना चाहिए ॥५३॥

कन्या-गो-भूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा ।
कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति, स्थूलासत्यान्यकीर्तयन् ॥५४॥

अर्थ - कन्यासम्बन्धी, गोसम्बन्धी, भूमिसम्बन्धी, धरोहर या गिरवी (बन्धक) रखी हुई वस्तु के अपलाप सम्बन्धी और कूटसाक्षी (झूठी गवाही) सम्बन्धी, ये पाँच स्थूल असत्य कहे हैं ॥५४॥

सर्वलोकविरुद्धं यद्यद् विश्वसितघातकम् ।
यद् विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत् तदसूनृतम् ॥५५॥

अर्थ - जो सर्वलोकविरुद्ध हो, जो विश्वासघात करने वाला हो और जो पुण्य का विपक्षी हो यानी पाप का पक्षपाती हो, ऐसा असत्य (स्थूल मृषावाद) नहीं बोलना चाहिए ॥५५॥

असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद् वचनीयता ।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥५६॥

अर्थ - असत्य बोलने से व्यक्ति इस लोक में लघुता (बदनामी) पाता है, असत्य से यह मनुष्य झूठा है, इस तरह की निंदा या अपकीर्ति संसार में होती है । असत्य बोलने से व्यक्ति को नीचगति प्राप्त होती है । इसलिए असत्य का त्याग करना चाहिए ॥५६॥

असत्यवचनं प्राज्ञः प्रमादेनाऽपि नो वदेत् ।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥५७॥

अर्थ – समझदार व्यक्ति प्रमादपूर्वक (अज्ञानता, मोह, अन्धविश्वास या गफलत से) भी असत्य न बोले । जैसे प्रबल अन्धड़ से बड़े-बड़े वृक्ष टूटकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही असत्य महाश्रेयों को नष्टकर देता है ॥५७॥

असत्यवचनाद् वैर, – विषादाप्रत्ययादयः ।
प्रादुःषन्ति न के दोषाः कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥५८॥

अर्थ – असत्य वचन बोलने से वैर, विरोध, पश्चात्ताप, अविश्वास राज्य आदि में अवमानता, बदनामी आदि दोष पैदा होते हैं । जैसे कुपथ्य (बदपरहेजी) करने से अनेकों रोग पैदा हो जाते है, वैसे ही असत्य बोलने से कौन-से दोष ऐसे हैं, जो पैदा नहीं होते ? अर्थात् असत्य से भी संसार में अनेक दोष पैदा होते हैं ॥५८॥

निगोदेष्वथ तिर्यक्षु, तथा नरकवासिषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥५९॥

अर्थ – असत्य-कथन के प्रताप से प्राणी दूसरे जन्मों में अनन्तकायिक निगोद जीवयोनियों में, तिर्यंचयोनियों में अथवा नरकावासों में उत्पन्न होते हैं ॥५९॥

ब्रूयाद् भियोपरोधाद् वा, नासत्यं कालिकार्यवत् ।
यस्तु ब्रूते स नरकं, प्रयाति वसुराजवत् ॥६०॥

अर्थ – कालिकाचार्य कतई असत्य न बोले, उसी तरह

मृत्यु या जबर्दस्ती (दबाव) आदि के भय से अथवा किसी के अनुरोध या लिहाज-मुलाहिजे में आकर कतई असत्य न बोले । परन्तु उपर्युक्त कारणों के वशीभूत होकर जो असत्य बोलता है, वह वसुराजा की तरह नरक में जाता है ॥६०॥

न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकरं वचः ।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात्, कौशिको नरकं गतः ॥६१॥

अर्थ – जिससे दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा सत्यवचन भी न बोले, क्योंकि यह लोकश्रुति है कि ऐसे वचन बोलने से कौशिक नरक में गया था ॥६१॥

अल्पादपि मृषावादाद् रौवादिषु सम्भवः ।
अन्यथा वदतां जैनीं, वाचं त्वहह का गतिः ॥६२॥

अर्थ – जरा-सा भी झूठ बोलने से जब नरकादि गतियों में उत्पन्न होना पड़ता है, अरे रे ! तो फिर श्रीजिनेश्वरदेव की वाणी को विपरीत बोलने वालों की क्या गति होगी ? ॥६२॥

ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्रीक्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥६३॥

अर्थ – जो मनुष्य ज्ञान और चारित्र के मूल कारण रूप सत्य ही बोलते हैं, उन मनुष्यों के चरणों की रज से यह पृथ्वी पवित्र होती है ॥६३॥

अलीकं ये न भाषन्ते सत्यव्रतमहाधनाः ।
नापराद्धुमलं तेभ्यो भूत-प्रेतोरगादयः ॥६४॥

अर्थ – जो सत्यव्रत के महाधनी मनुष्य असत्य नहीं बोलते, उन्हें भूत, प्रेत, सर्प आदि कोई भी दुःख देने में समर्थ नहीं होते ॥६४॥

दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा, स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥६५॥

अर्थ – दुर्भाग्यता (भाग्य फूट जाना), किंकरता (दूसरे के घर में नौकर बनकर कार्य करना), दासता (गुलामी), शारीरिक पराधीनता, हाथ, पैर आदि अंगोंपांगों का छेदन, निर्धनता आदि पूर्वजन्म में बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने (अदत्तादान = चोरी) का फल है ॥६५॥

पतितं विस्मृतं नष्टं, स्थितं स्थापितमाहितम् ।
अदत्तं नाददीत स्वं, परकीयं क्वचित्सुधीः ॥६६॥

अर्थ – रास्ते चलते हुए या सवारी से जाते हुए गिरी हुई, उसके मालिक के भूल जाने से पड़ी हुई, खोयी हुई, मालिक को उसका पता भी न हो, इस प्रकार रखी हुई अथवा अमानत, धरोहर के सुरक्षित रखने के लिए रखी गयी, जमीन में गाड़ी हुई, दूसरे की वस्तु को उसके मालिक की इच्छा या अनुमति के बिना ग्रहण करना चोरी है । बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार के संकटापन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में हो, फिर भी चोरी न करे ॥६६॥

अयं लोकः परलोको, धर्मो धैर्यं धृतिर्मतिः ।
मुष्णता परकीयं स्वं, मुषितं सर्वमप्यदः ॥६७॥

अर्थ – दूसरे के धन की चोरी करने वाला उसके धन को ही हरण नहीं करता, अपितु इस लोक का जन्म, जन्मान्तर, धर्महीनता, धृति, मति कार्याकार्य के विवेक रूप भावधन का भी हरण कर लेता है ॥६७॥

एकस्यैकं क्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥६८॥

अर्थ – जिस जीव की हिंसा की जाती है उसे चिरकाल तक दुःख नहीं होता, अपितु क्षणभर के लिए होता है । मगर किसी का धन-हरण किया जाता है, तो उसके पुत्र, पौत्र और सारे परिवार का जिन्दगी भर दुःख नहीं जाता । यानी पूरी जिन्दगी उसके दुःख का घाव नहीं मिटता ॥६८॥

चौर्य्य-पापद्रुमस्येह, वधबन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु, फलं नरक-वेदना ॥६९॥

अर्थ – चोरी-रूप पाप-वृक्ष का फल इस जन्म में तो वध, बन्धन आदि के रूप में मिलता ही है, किन्तु अगले जन्मों में नरक की वेदना के रूप में भयंकर फल मिलता है ॥६९॥

दिवसे वा रजन्यां वा, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।
सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचित् ॥७०॥

अर्थ – तीखा कांटा या तीक्ष्ण तीर चुभ जाने पर जैसे

मनुष्य शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता, वैसे ही चोर को दिन-रात, सोते, जागते किसी भी समय शान्ति महसूस नहीं होती। चोरी करने वाला केवल शान्ति से ही वंचित नहीं होता, उसका बन्धु-बान्धववर्ग भी उसे छोड़ देता है ॥७०॥

मित्र-पुत्र-कलत्राणि भ्रातरः पितरोऽपि हि ।
संसृजन्ति क्षणमपि न म्लैच्छैरिव तस्करैः ॥७१॥

अर्थ - म्लेच्छों के साथ जैसे कोई एक क्षणभर भी संसर्ग नहीं करता, वैसे ही चोरी करने वाले के साथ उसके मित्र, पुत्र, पत्नी, भाई, माता-पिता इत्यादि सम्बन्धी भी क्षणभर भी संसर्ग नहीं करते ॥७१॥

सम्बन्ध्यपि निगृह्येत चौर्यान्मण्डिकवन्नृपैः ।
चौरोऽपित्यक्तचौर्यः स्यात् स्वर्गभाग् रौहिणेयवत् ॥७२॥

अर्थ - चोरी करने वाला सम्बन्धी हो तो भी मण्डिक चोर की तरह राजा उसे पकड़ता है और चोर होने पर भी चोरी का त्याग करने से रोहिणेय की तरह स्वर्ग-सुख का अधिकारी हो जाता है ॥७२॥

दूरे परस्य सर्वस्वमपहर्तुमुपक्रमः ।
उपाददीत नादत्तं तृणमात्रमपि क्वचित् ॥७३॥

अर्थ - दूसरे का धन आदि सर्वस्व हरण करने की बात तो दूर रही, परन्तु दिये बिना एक तिनका भी नहीं लेना चाहिए। उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए ॥७३॥

परार्थग्रहणे येषां, नियमः शुद्धचेतसाम् ।
अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां स्वयमेव स्वयंवराः ॥७४॥

अर्थ - जो शुद्धचित्त मनुष्य दूसरे का धन हरण न करने का नियम ले लेता है, उनके पास सम्पत्तियाँ स्वयंवरा कन्या के समान स्वयं आती हैं, न कि दूसरे की प्रेरणा से, अथवा व्यापार-धन्धे से प्राप्त होती हैं ॥७४॥

अनर्था दूरतो यान्ति, साधुवादः प्रवर्तते ।
स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते, स्फूटमस्तेयचारिणाम् ॥७५॥

अर्थ - अस्तेयव्रत का आचरण करने वाले पर विपत्तियाँ आ जाने पर भी दूर चली जाती हैं। लोगों में अपनी प्रामाणिकता के लिए धन्यवाद मिलता है कि 'यह आदमी प्रामाणिक है।' इस लोक में उसकी प्रशंसा होती है, परलोक में भी वह स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है ॥७५॥

षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः ।
भवेत् स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥७६॥

अर्थ - समझदार गृहस्थ उपासक परलोक में नपुंसकता और इहलोक में राजा या सरकार आदि द्वारा इन्द्रियच्छेदन आदि अब्रह्मचर्य के कड़वे फल देखकर या शास्त्रादि द्वारा जानकर परस्त्रियों का त्याग करें और अपनी स्त्री में सन्तोष रखे ॥७६॥

रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफलसङ्काशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ? ॥७७॥

अर्थ – मैथुसेवन प्रथम प्रारम्भमात्र में बड़ा रमणीय और सुन्दर लगता है, लेकिन उसका परिणाम किंपाकफल के सदृश बहुत भयंकर है। ऐसी दशा में कौन उस मैथुन का सेवन करेगा ? ॥७७॥

कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्मादि रोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥७८॥

अर्थ – मैथुन सेवन करने वाले को कंप, पसीना, थकान, मूर्च्छा, चक्कर, अंग टूटना, बल का नाश, राजयक्ष्मा (तपेदिक = क्षय), भगंदर, दमा, श्वासरोग आदि महारोग पैदा हो जाते हैं ॥७८॥

योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा, जन्तुराशयः ।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥७९॥

अर्थ – योनि रूपी यन्त्र में अनेक सूक्ष्मतर जन्तु उत्पन्न होते हैं। मैथुनसेवन करने से वे जन्तु मर जाते हैं। इसलिए मैथुनसेवन का त्याग करना चाहिए ॥७९॥

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥८०॥

अर्थ – रक्त से उत्पन्न सूक्ष्म, मृदु, मध्यम और अधिक शक्ति वाले सूक्ष्म कृमि स्त्री के योनि मार्गों में वैसी खुजली पैदा करते हैं ॥८०॥

स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥८१॥

अर्थ – जो लोग स्त्रीसंभोग से कामज्वर का प्रतीकार (चिकित्साशमन या शान्ति) करना चाहते हैं, वे जलती हुई आग में घी की आहुति देकर उसे बुझाना चाहते हैं ॥८१॥

वरं ज्वलदयःस्तम्भ-परिरम्भो विधीयते ।
न पुनर्नरकद्वार-रामाजघन-सेवनम् ॥८२॥

अर्थ – आग से तपे हुए जाज्वल्यमान लोहे के खम्भे का आलिंगन करना अच्छा है, मगर नरक-द्वार के तुल्य स्त्री का सेवन करना अच्छा नहीं ॥८२॥

सतामपि हि वामभ्रूर्ददाना हृदये पदम् ।
अभिरामं गुणग्रामं, निर्वासयति निश्चितम् ॥८३॥

अर्थ – सत्पुरुषों के हृदय में अगर स्त्री का कटाक्ष स्थान जमा ले तो वह निश्चित ही सुन्दर गुणसमुदाय को वहाँ से निकाल देता है ॥८३॥

वञ्चकत्वं नृशंसत्वं, चञ्चलत्वं कुशीलता ।
इति नैसर्गिका दोषा, यासां तासु रमेत कः ? ॥८४॥

अर्थ – स्वभाव से (नैसर्गिक रूप से) जिनमें वंचकता (ठगाई), निर्दयता, चंचलता और कुशीलता (संयमाभाव) आदि दोष होते हैं, उन (तुच्छ स्त्रियों) में कौन समझदार पुरुष रागबुद्धि से (आसक्तिपूर्वक) रमण कर सकता है ? ॥८४॥

प्राप्तुं पारमपारस्य, पारावारस्य पार्यते ।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां, दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥८५॥

अर्थ – अपार समुद्र की तो थाह पायी जा सकती है,

लेकिन स्वभाव से ही कुटिल कामिनियों के दुश्चरित्र की थाह नहीं पाई जा सकती ॥८५॥

नितम्बिन्यः पतिं पुत्रं, पितरं भ्रातरं क्षणात् ।
आरोपयन्त्यकार्येऽपि, दुर्वृत्ताः प्राणसंशये ॥८६॥

अर्थ - दुश्चरित्र स्त्रियाँ क्षणभर में अपने पति, पुत्र, पिता और भाई के प्राण संकट में पड़ जाय, ऐसे अकार्य भी कर डालती है ॥८६॥

भवस्य बीजं नरकद्वारमार्गस्य दीपिका ।
शुचां कन्दः कलेर्मूलं, दुःखानां खानिरङ्गना ॥८७॥

अर्थ - स्त्री संसार की बीज है, नरकद्वार के मार्ग की दीपिका है, शोकों का कन्द है, कलियुग की जड़ है अथवा कले-कलह की जड़ है, दुःखों की खान है ॥८७॥

मनस्यन्यत्वचस्यन्यत्क्रियायामन्यदेव हि ।
यासां साधारणस्त्रीणां, ताः कथं सुखहेतवे ? ॥८८॥

अर्थ - जिन साधारण स्त्रियों के मन में कुछ ओर है, वचन द्वारा कुछ ओर ही बात व्यक्त करती है ओर शरीर द्वारा कार्य कुछ ओर ही होता है। ऐसी वेश्याएँ (हरजाइयाँ) कैसे सुख की कारणभूत हो सकती है ? ॥८८॥

मांसमिश्रं सुरामिश्रमनेकविटचुम्बितम् ।
को वेश्यावदनं चुम्बेदुच्छिष्टमिव भोजनम् ॥८९॥

अर्थ - मांस खाने के कारण बदबूदार, शराब पीने के कारण दुर्गंधित तथा अनेक जार पुरुषों के द्वारा चुंबन किये

हुए, उच्छिष्ट (झूठे) भोजन की तरह झूठे व गन्दे वैश्या के मुख को कौन चुमना चाहेगा ? ॥८९॥

अपि प्रदत्तसर्वस्वात् कामुकात् क्षीणसम्पदः ।
वासोऽप्याच्छेत्तुमिच्छन्ति गच्छतः पण्ययोषितः ॥९०॥

अर्थ - कामी पुरुष द्वारा अपना सर्वस्व धन दे देने पर भी जब वह निर्धन हो जाता है तो जाते-जाते वेश्या उसके पहनने के कपड़े भी छीन लेना चाहती है ॥९०॥

न देवान्न गुरुन्नापि, सुहृदो न च बान्धवान् ।
असत्सङ्गरतिर्नित्यं, वेश्यावश्यो हि मन्यते ॥९१॥

अर्थ - वेश्या का गुलाम बना हुआ कामी पुरुष न तो देवों (महापुरुषों) को मानता है, न गुरुओं को, न मित्रों की भी मानता है और न बांधवों को, क्योंकि वह सदा बुरी सोहबत में ही आनन्द मानता है। उसी में मस्त रहता है ॥९१॥

कुष्ठिनोऽपि स्मरसमान्, पश्यन्तीं धनकाङ्क्षया ।
तन्वतीं कृत्रिमस्नेहां, निःस्नेहां गणिकां त्यजेत् ॥९२॥

अर्थ - वेश्या एकमात्र धन की आकांक्षा से कोढ़ियों को भी कामदेव के समान देखती है और बनावटी स्नेह दिखाती है, समझदार पुरुष ऐसी निःस्नेह गणिका का दूर से ही त्याग करे ॥९२॥

नासक्त्या सेवनीया हि स्वदारा अप्युपासकैः ।
आकरः सर्वपापानां किं पुनः परयोषितः ॥९३॥

अर्थ - श्रमणोपासकों को अपनी स्त्री का सेवन भी

आसक्ति पूर्वक नहीं करना चाहिए, तो फिर समस्त पापों की खान पराई स्त्रियों की तो बात ही क्या है ? ॥९३॥

स्वपतिं या परित्यज्य, निस्त्रपोपपतिं भजेत् ।
तस्यां क्षणिकचित्तायां, विश्रम्भः कोऽन्ययोषिति ? ॥९४॥

अर्थ – जो स्त्री अपने पति को छोडकर निर्लज्ज होकर दूसरे के साथ सहवास करती है, उस चंचल चित्त वाली स्त्री पर कौन भरोसा कर सकता है ? ॥९४॥

भीरोराकुलचित्तस्य दुःस्थितस्य परस्त्रियाम् ।
रतिर्न युज्यते कर्तुमुपशूनं पशोरिव ॥९५॥

अर्थ – परस्त्री में रत मनुष्य सदा भयभीत रहता है, उसका चित्त घबड़ाया हुआ-सा रहता है और वह खराब स्थिति में रहता है, इसलिए ऐसे परस्त्रीलंपट का परस्त्री के पास रहना वैसा ही खतरनाक है, जैसा कि मारे जाने वाले पशु का शूली के पास रहना । मतलब यह कि सद्गृहस्थ का परनारी से नेह करना जरा भी उचित नहीं है ॥९५॥

प्राणसन्देहजननं, परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च, परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥९६॥

अर्थ – जिसमें हर समय प्राणों के जाने का संदेह हो, जो वैर और द्वेष का कारण हो, ऐसे इह लोक और परलोक दोनों से विरुद्ध परस्त्रीगमन का त्याग करना चाहिए ॥९६॥

सर्वस्वहरणं बन्धं, शरीरावयच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिकः ॥९७॥

अर्थ – परस्त्रीगामी का कभी-कभी तो सर्वस्व हरण कर लिया जाता है, उसे रस्सी आदि से बांधकर कैद में डाल दिया जाता है, शरीर के अंगोपांग पुरुषचिह्न आदि काट दिये जाते हैं, ये तीन इहलौकिक कुफल हैं । पारलौकिक कुफल यह है कि ऐसा पारदारिक मरकर घोर नरक में जाता है, जहाँ उसे भयंकर यातनाएँ मिलती है ॥९७॥

स्वदाररक्षणे यत्नं, विदधानो निरंतरम् ।
जानन्नपि जनो दुःखं, परदारान् कथं व्रजेत् ॥९८॥

अर्थ – अपनी स्त्री की रक्षा के लिए पुरुष निरन्तर प्रयत्न करता है, अनेक प्रकार के कष्ट उसके जतन के लिए उठाता है । जब यह जानता है, तब फिर परस्त्रीगमन की आफत क्यों मौल लेता है ? स्वस्त्रीरक्षा में इतने कष्ट जानता हुआ भी कोई परस्त्रीगमन क्यों करेगा ? ॥९८॥

विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिंसया ।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप, नरकं दशकन्धरः ॥९९॥

अर्थ – अपने पराक्रम से सारे विश्व को कम्पा देने वाला रावण अपनी स्त्री के होते हुए भी सीता सती को कामलोलुपतावश उड़ाकर ले गया और उसके प्रति सिर्फ कुदृष्टि की, जिसके कारण उसके कुल का नाश हो गया, लंकानगरी खत्म हो गयी । और वह मरकर नरक में गया । इतना बड़ा पराक्रमी भी जब अपने अनर्थ का फल पा चुका

तो दूसरे की तो क्या बिसात है कि उसे परस्त्रीगमन का फल नहीं मिलेगा ? ॥९९॥

लावण्यपुण्यावयवां, पदं सौन्दर्यसम्पदः ।
कलाकलापकुशलामपि जह्यात् परस्त्रियम् ॥१००॥

अर्थ – परस्त्री चाहे कितनी ही लावण्ययुक्त हो, शुभ अंगोपांगों से युक्त हो, सौंदर्य एवं सम्पत्ति का घर हो तथा विविध कलाओं में कुशल हो, फिर भी उसका त्याग करना चाहिए ॥१००॥

अकलङ्कमनोवृत्तेः परस्त्री-सन्निधावपि ।
सुदर्शनस्य किं ब्रूमः सुदर्शनसमुन्नतेः ? ॥१०१॥

अर्थ – परस्त्री के पास रहने पर भी निष्कलंक मनोवृत्ति वाले सुदर्शन महाश्रावक, जिसके शुभदर्शन से ही जीवन की उन्नति होती है अथवा जैनदर्शन की उन्नति करने वाले की कितनी प्रशंसा करें ? ॥१०१॥

ऐश्वर्यराजराजोऽपि, रूपमीनध्वजोऽपि च ।
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्या नरः परः ॥१०२॥

अर्थ – सम्पत्ति में राजाओं का राजा हो, रूप में कामदेव जैसा हो तो भी सीता ने रावण को त्यागा वैसे अन्य स्त्रियों को पर पुरुष का त्याग करना चाहिए ॥१०२॥

नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं, दौर्भाग्यं च भवे-भवे ।
भवेन्नराणां स्त्रीणां चान्यकान्तासक्तचेतसाम् ॥१०३॥

अर्थ – जो स्त्रियाँ परपुरुष में आसक्त होती हैं तथा जो

पुरुष परस्त्री में आसक्त होते हैं, उन स्त्रियाँ या पुरुषों को जन्म-जन्मांतर में नपुंसकता, तिर्यक्त्व (पशुपक्षीयोनि) और दौर्भाग्यत्व प्राप्त होते हैं ॥१०३॥

प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ॥१०४॥

अर्थ – देशविरति या सर्वविरति चारित्र के प्राणभूत और परब्रह्म (परमात्मा की) प्राप्ति (मुक्ति) के एकमात्र (असाधारण) कारण, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मनुष्य सिर्फ सामान्य मनुष्यों द्वारा ही नहीं, सुर, असुर और राजाओं (पूजितों) द्वारा भी पूजा जाता है ॥१०४॥

चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥१०५॥

अर्थ – ब्रह्मचर्य के प्रताप से मनुष्य अनुत्तरौपपातिक देवादि स्थानों में उत्पन्न होने से दीर्घायु, समचतुरस्र (डिलडौल) वाले, मजबूत हड्डियों से युक्त-वज्र ऋषभनाराच नामक संहनन वाले, तेजस्वी शरीर कान्तिमान देह वाले, तीर्थंकर आदि चक्रवर्ती आदि के रूप में महाबलशाली होते हैं ॥१०५॥

असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम् ।
मत्वामूर्च्छाफलं कुर्यात्, परिग्रह-नियन्त्रणम् ॥१०६॥

अर्थ – दुःख के कारण रूप असन्तोष, अविश्वास और आरम्भ को मूर्च्छा के फल मानकर परिग्रह पर नियन्त्रण (अंकुश) करना चाहिए ॥१०६॥

परिग्रहमहत्वाद्धि, मज्जत्येव भवाम्बुधौ ।

महापोत इव प्राणी, त्यजेत्तस्मात् परिग्रहम् ॥१०७॥

अर्थ – जैसे अधिक वजन हो जाने पर जहाज समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही प्राणी परिग्रह के बोझ के कारण संसार रूपी समुद्र में डूब जाता है । इसलिए परिग्रह का त्याग करना चाहिए ॥१०७॥

त्रसरेणुसमोऽप्यत्र, न गुणः कोऽपि विद्यते ।

दोषास्तु पर्वतस्थूलाः प्रादुष्षन्ति परिग्रहे ॥१०८॥

अर्थ – इस परिग्रह में त्रसरेणु (सूक्ष्मरजकण) जितना भी कोई गुण नहीं है, प्रत्युत उससे पर्वत जितने बड़े-बड़े दोष पैदा होते हैं ॥१०८॥

सङ्गाद् भवन्त्यसन्तोऽपि, रागद्वेषादयो द्विषः ।

मुनेरपि चलेच्चेतो, यत्तेनान्दोलितात्मनः ॥१०९॥

अर्थ – परिग्रह के संग = आसक्ति से राग, द्वेष आदि शत्रु जो पहले नहीं थे, वे पैदा हो जाते हैं । क्योंकि परिग्रह के प्रभाव से तो मुनि का मन भी डांवाडोल होकर संयम से च्युत हो जाता है ॥१०९॥

तपःश्रुतपरिवारां, शमसाम्राज्यसम्पदम् ।

परिग्रहग्रहग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥११०॥

अर्थ – परिग्रह रूपी ग्रह से ग्रस्त योगीजन भी तप और ज्ञान के परिवार वाली शमसाम्राज्य-संपत्ति को छोड़ बैठते हैं ॥११०॥

असन्तोषवतः सौख्यं, न शक्रस्य न चक्रिणः ।

जन्तोः सन्तोषभाजो, यदभयस्येव जायते ॥१११॥

अर्थ – असन्तोषी मनुष्य चाहे वह इन्द्रमहाराज और चक्रवर्ती ही हो, उसे जो सुख प्राप्त नहीं होता, उसे सन्तोषी मनुष्य अभयकुमार को प्राप्त सन्तोष रूपी साम्राज्यसुख की तरह प्राप्त कर लेता है ॥१११॥

सन्निधौ निधयस्तस्य, कामगव्यनुगामिनी ।

अमराः किङ्करायन्ते, सन्तोषो यस्य भूषणम् ॥११२॥

अर्थ – जिसके पास सन्तोष रूपी आभूषण हैं, समझ लो, पद्म आदि नौ निधियाँ उसके हाथ में हैं, कामधेनु गाय तो उसके पीछे-पीछे फिरती है और देवता भी दास बनकर उसकी सेवा करते हैं ॥११२॥

• • •

३. तृतीय प्रकाश

दशस्वपि कृता दिक्षु, यत्र सीमा न लङ्घ्यते ।
ख्यातं दिग्विरतिरिति, प्रथमं तद् गुणव्रतम् ॥१॥

अर्थ – जिस व्रत में दशों दिशाओं में जाने-आने के लिए की गयी सीमा (मर्यादा) का भंग न किया जाय, वह दिग्विरति नामक पहला गुणव्रत कहलाता है ॥१॥

चराचराणां जीवानां, विमर्दननिवर्त्तनात् ।
तप्ताऽयोगोलकल्पस्य, सद्व्रतं गृहिणोऽप्यदः ॥२॥

अर्थ – चारों दिशाओं में क्षेत्र को मर्यादित करने से चराचर जीवों के हिंसादि के रूप में विनाश से निवृत्ति होती है। इसलिए तपे हुए लोहे के गोले के समान गृहस्थ के लिए यह व्रत शुभ बताया जाता है ॥२॥

जगदाक्रमणमाणस्य, प्रसरल्लोभवारिधेः ।
स्खलनं विदधे तेन, येन दिग्विरतिः कृता ॥३॥

अर्थ – जिस मनुष्य ने दिग्विरति (दिशापरिमाण) व्रत अंगीकार कर लिया, उसने सारे संसार पर हमला करते हुए फैले हुए लोभ रूपी महासमुद्र को रोक लिया ॥३॥

भोगोपभोगयोः सङ्ख्या, शक्त्या यत्र विधीयते ।
भोगोपभोगमानं तद्, द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ॥४॥

अर्थ – जिस व्रत में अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति के अनुसार भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं की संख्या के रूप

में सीमा निर्धारित कर ली जाती है, उसे भोगोपभोगपरिमाण नामक दूसरा गुणव्रत कहा है ॥४॥

सकृदेव भुज्यते यः, स भोगोऽन्नस्त्रगादिकः ।
पुनः पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिकः ॥५॥

अर्थ – जो पदार्थ एक ही बार भोगा जाय, वह भोग कहलाता है, जैसे अन्न, जल, फूल, माला, ताम्बूल, विलेपन, उद्वर्तन, धूप, पान, स्नान आदि और जिसका अनेक बार उपभोग किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं। उदाहरण के तौर पर-स्त्री, वस्त्र, आभूषण, घर, बिछौना, आसन, वाहन आदि। यह भोगोपभोगपरिमाण व्रत दो प्रकार का है – पहले में, भोगने योग्य वस्तु की मर्यादा कर लेने से होता है और दूसरे में, अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करने से होता है ॥५॥

मद्यं मासं नवनीतं मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ॥६॥
आमगोरससम्पृक्तं, द्विदलं पुष्पितौदनम् ।
दध्यहर्द्वितयातीतं, कुथितान्नं च वर्जयेत् ॥७॥

अर्थ – मद्य दो प्रकार का होता है – एक ताड़ आदि वृक्षों के रस (ताड़ी) के रूप में होता है, दूसरा आटा, महुड़ा आदि पदार्थों को सड़ाकर बनाया जाता है, जिसे शराब कहते हैं। जलचर, स्थलचर और खेचर जीवों के भेद से मांस भी तीन प्रकार का है। मांस के साथ उससे सम्बन्धित चमड़ी, हड्डी,

चर्बी, रक्त आदि भी समझ लेना। गाय, भैंस, बकरी और भेड़ इन चारों के दूध से मक्खन तैयार होता है, इसलिए चार प्रकार का मक्खन तथा मधु मक्खी, भ्रमरी और कुत्तिका इन तीनों का मधु, उदूंबर (गुल्लर) आदि पाँच, अनन्तकायिक फल, अनजाने फल, रात्रिभोजन, कच्चे दहीं-छाछ के साथ मिले हुए मूंग, चने, उड़द, मोठ आदि द्विदल (दालें), फूलन (काई) पड़े हुए चावल, दो दिन के बाद का दही, सड़ा बासी अन्न, इन सबका सेवन करना छोड़े ॥६-७॥

मदिरापानमात्रेण, बुद्धिर्नश्यति दूरतः ।
वैदग्धीबन्धुरस्यापि, दौर्भाग्येणेव कामिनी ॥८॥

अर्थ – जैसे चतुर से चतुर पुरुष को भी दुर्भाग्यवश कामिनी दूर से ही छोड़कर भाग जाती है, वैसे ही मदिरा पीने मात्र से बुद्धिशाली पुरुष को भी बुद्धि छोड़कर पलायन कर जाती है ॥८॥

पापाः कादम्बरीपानविवशीकृतचेतसः ।
जननीं हा प्रियीयन्ति, जननीयन्ति च प्रियाम् ॥९॥

अर्थ – मदिरा पीने से चित्त काबू से बाहर हो जाने के कारण पापात्मा शराबी भान खोकर माता के साथ पत्नी जैसा और पत्नी के साथ माता-सा व्यवहार करने लगता है ॥९॥

न जानाति परं स्वं वा, मद्याच्चलितचेतनः ।
स्वामीयति वराकः स्वं, स्वामिनं किङ्करीयति ॥१०॥

अर्थ – मदिरा पीने से अव्यवस्थित (चंचल) चित्त

व्यक्ति अपने पराये को भी नहीं पहचान सकता । वह बेचारा अपने नौकर को मालिक और मालिक को अपना नौकर मानकर व्यवहार करने लगता है । बेसुध होने से बेचारा दयनीय बन जाता है ॥१०॥

मद्यपस्य शबस्येव, लूठितस्य चतुष्पथे ।
मूत्रयन्ति मुखे श्वानो, व्यात्ते विवरशङ्कया ॥११॥

अर्थ – शराब पीने वाला शराब पीकर जब मुर्दे की तरह सरेआम चौराहे पर लोटता है तो खड्डे की आशंका से उसके खुले हुए मुंह में कुत्ते पेशाब कर देते हैं ॥११॥

मद्यपानरसे मग्नो नग्नः स्वपिति चत्वरे ।
गूढं च स्वमभिप्रायं, प्रकाशयति लीलया ॥१२॥

अर्थ – शराब पीने में मस्त शराबी बाजार में कपड़े अस्त-व्यस्त करके सरेआम नंगा सो जाता है और अपनी गुप्त बात को या राजद्रोह आदि गुप्त रखे जाने वाले अपराध को बिना ही किसी मारपीट या गिरफ्तारी के अनायास ही प्रकट कर देता है ॥१२॥

वारुणीपानतो यान्ति, कान्तिकीर्तिमतिश्रियः ।
विचित्राश्चित्ररचना, विलुण्ठत् कज्जलादिव ॥१३॥

अर्थ – जैसे अतिसुन्दर बनाये हुए चित्रों पर काजल पोते देने से वे नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही मदिरापान से मनुष्य की कांति, कीर्ति, बुद्धि-प्रतिभा और सम्पत्ति नष्ट हो जाती है ॥१३॥

भूतात्तवन्नरीनर्त्ति, रारटीति सशोकवत् ।
दाहज्वरार्त्तवद् भूमौ, सुरापो लोलुठीति च ॥१४॥

अर्थ – मद्यपान करने वाला भूत लगे हुए की तरह बार-बार नाचता-कूदता है, मृतक के पीछे शोक करने वाले की तरह जोर-जोर से रोता-चिल्लाता है, जाहज्वर से पीड़ित व्यक्ति की तरह इधर-उधर लोटता है, छटपटाता है ॥१४॥

विदधत्यङ्गशैथिल्यं, ग्लपयन्तीन्द्रियाणि च ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ती, हाला हालाहलोपमा ॥१५॥

अर्थ – हलाहल जहर की तरह शराब पीने वाले के अंगों को शराब सुस्त कर देती है, इन्द्रियों की कार्यशक्ति क्षीण कर देती है, बहुत जोर की बेहोशी पैदा कर देती है ॥१५॥

विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा ।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं, तृण्या वह्निकणादिव ॥१६॥

अर्थ – जैसे आग की एक ही चिनगारी से घास का बड़ा भारी ढेर जलकर भस्म हो जाता है, वैसे ही मद्यपान से हेयोपादेय का विवेक, संयम, ज्ञान, सत्यवाणी, आचारशुद्धि रूप शौच, दया, क्षमा आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१६॥

दोषाणां कारणं मद्यं, मद्यं कारणमापदाम् ।
रोगातुर इवापथ्यं, तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥१७॥

अर्थ – रुग्ण मनुष्य के लिए जैसे अपथ्य भोजन का त्याग करना जरूरी होता है, वैसे ही चोरी, परस्त्रीगमन अनेक दोषों की उत्पत्ति के कारण तथा वध (मारपीट), बन्धन (गिरफ्तारी)

आदि अनेक संकटों के कारण व जीवन के लिए अपथ्य रूप मद्य का सर्वथा त्याग करना जरूरी है ॥१७॥

चिखादिषति यो मांसं, प्राणि प्राणापहारतः ।
उन्मूलयत्यसौ मूलं, दयाख्यं धर्मशाखिनः ॥१८॥

अर्थ – प्राणियों के प्राणों का नाश किये बिना मांस मिलना संभव नहीं है और जो पुरुष ऐसा मांस खाना चाहता है, वह धर्म रूपी वृक्ष के दया रूपी मूल को उखाड़ डालता है ॥१८॥

अशनीयन् सदा मांसं, दयां यो हि चिकीर्षति ।
ज्वलति ज्वलने वल्लीं, स रोपयितुमिच्छति ॥१९॥

अर्थ – जो सदा मांस खाता हुआ, दया करना चाहता है, वह जलती हुई आग में बेल रोपना चाहता है । ऐसे मांसभक्षियों के हृदय में दया का होना कठिन है ॥१९॥

हन्ता पलस्य विक्रेता, संस्कर्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च, घातका एव यन्मनुः ॥२०॥

अर्थ – शस्त्रादि से घात करने वाला, मांस बेचने वाला, मांस पकाने वाला, मांस खाने वाला, मांस का खरीददार, उसका अनुमोदन करने वाला और मांस का दाता अथवा यजमान, ये सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप (परम्परा) से जीव के घातक (हिंसक) ही हैं ॥२०॥

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥२१॥

अर्थ – मांस खाने का अनुमोदन करने वाला, प्राणी का वध करने वाला, अंग-अंग काटकर विभाग करने वाला, मांस का ग्राहक और विक्रेता, मांस पकाने वाला, परोसने वाला, या भेंट देने वाला और खाने वाला, ये सभी एक ही कोटि के घातक (हिंसक) हैं ॥२१॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥२२॥

अर्थ – प्राणियों का वध किये बिना मांस कहीं प्राप्त या उत्पन्न नहीं होता और प्राणिवध जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाला होने के कारण स्वर्ग देने वाला न ही है, अपितु वह नरक के दुःख का कारण रूप है। ऐसा सोचकर मांस का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥२२॥

ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वकीयपलपुष्टये ।
त एव घातका यन्न वधको भक्षकं विना ॥२३॥

अर्थ – जो पापी स्व मांस की पुष्टि के लिए दूसरों के मांस का आहार करता है। वे ही वास्तव में हिंसक है, क्योंकि खाने वाले के बिना वध करने वाले नहीं होते ॥२३॥

मिष्टान्नान्यपि विष्ठासादमृत्यान्यपि मूत्रसात् ।
स्युर्यस्मिन्नङ्कस्याऽस्य, कृते कः पापमाचरेत् ॥२४॥

अर्थ – जिस शरीर में चावल, मूंग, उड़द, गेहूं आदि का स्वादिष्ट भोजन, यहाँ तक कि विविध प्रकार के मिष्टान्न भी आखिर विष्टा रूप बन जाते हैं और दूध आदि अमृतोपम सुन्दर

पेयपदार्थ भी मूत्र रूप बन जाते हैं। अतः इस अशुचिमय (गन्दे घिनौने) शरीर के लिए कौन ऐसा समझदार मनुष्य होगा, जो हिंसा आदि पापाचरण करेगा ? ॥२४॥

मांसाशने न दोषोऽस्तीत्युच्यते यैर्दुरात्मभिः ।
व्याध-गृध-वृकव्याघ्रशृगालास्तैर्गुरुकृताः ॥२५॥

अर्थ – मांसभक्षण में कोई दोष नहीं है, ऐसा जो दुरात्मा कहते हैं, उन्होंने पारधी (बहेलिया), गीध, भेड़िया, बाघ, सियार आदि को गुरु बनाया होगा ! ॥२५॥

मां स भक्षयितामुत्र, यस्य मांसमिहादम्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥२६॥

अर्थ – मनु ने भी मांस शब्द की इसी प्रकार व्युत्पत्ति की है – मांस = जिसका मांस में इस जन्म में खाता हूं, स अर्थात् वह, मां = मुझे पर (अगले) जन्म में खायेगा, यही मांस का मांसत्व है ॥२६॥

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनं देहिनं प्रति ।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शाकिन्या इव दुर्धियः ॥२७॥

अर्थ – मांस के आस्वादन में लोलुप बने हुए दुर्बुद्धि मनुष्य की बुद्धि शाकिनी की तरह जिस किसी जीव को देखा, उसे ही मारने में प्रवृत्त हो जाती है ॥२७॥

ये भक्षयन्ति पिशितं, दिव्यभोज्येषु सत्स्वपि ।
सुधारसं परित्यज्य, भुञ्जते ते हलाहलम् ॥२८॥

अर्थ – दिव्य (सात्त्विक) भोज्य पदार्थों के होते हुए

भी जो मांस खाते हैं, वे सुधारस को छोड़कर हलाहल जहर खाते हैं ॥२८॥

न धर्मो निर्दयस्यास्ति, पलादयस्य कुतो दया ।
पललुब्धो न तद्वेत्ति, विद्याद्वोपदिशेन्नहि ॥२९॥

अर्थ – निर्दय व्यक्ति का कोई धर्म नहीं होता, मांस खाने वालों में दया कहाँ से हो सकती है ? क्योंकि मांसलोलुप व्यक्ति धर्म को तो जानता ही नहीं । अगर जानता है तो उस प्रकार के धर्म का उपदेश नहीं देता ॥२९॥

केचिन्मांसं महामोहादश्नन्ति न परं स्वयम् ।
देवपित्रातिथिभ्योऽपि कल्पयन्ति यदूचिरे ॥३०॥

अर्थ – कितने ही लोग महामूढ़ता से केवल स्वयं ही मांस खाते हों, इतना ही नहीं, बल्कि देव, पितर आदि पूर्वजों और अतिथि को भी कल्पना करके (पूजा आदि की दृष्टि से) मांस देते या चढाते हैं । क्योंकि उनके मान्य शास्त्रों (मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक ३२) में उसे धर्म बता रखा है । वही प्रमाण उद्धृत करते हैं ॥३०॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य, परोपहृतमेव वा ।
देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य, खादन् मांसं न दूष्यति ॥३१॥

अर्थ – स्वयं मांस खरीदकर अथवा किसी जीव को मारकर स्वयं उत्पन्न करके, या दूसरों से (भेंट में) प्राप्त करके उस मांस से देव और पितरों की पूजा करके (देवों

और पितरों को चढ़ाकर) बाद में उस मांस को खाता है तो वह व्यक्ति मांसाहार के दोष से दूषित नहीं होता ॥३१॥

मन्त्रसंस्कृतमप्याद्याद्यवाल्पमपि नो पलम् ।
भवेज्जीवितनाशाय हालाहललवोऽपि हि ॥३२॥

अर्थ – मन्त्रों से सुसंस्कृत हो जाने पर भी जौ के दाने जितना भी मांस नहीं खाना चाहिए । क्योंकि हलाहल विष की एक बून्द भी तो जीवन को समाप्त ही कर देती है ॥३२॥

सद्यः सम्मूर्च्छितानन्तजन्तुसन्तानदूषितम् ।
नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः ॥३३॥

अर्थ – जीव का वध करते ही तुरन्त उसमें निगोद रूपी अनन्त समूर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी बार-बार उत्पन्न होने की परम्परा चालू ही रहती है । आगमों में बताया है – 'कच्चे या पकाये हुए मांस में या पकाते हुए मांसपेशियों में निगोद के समूर्च्छिम जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है ।' इसलिए इतनी जीवहिंसा से दूषित मांस नरक के पथ का पाथेय (भाता) है । इस कारण कौन सुबुद्धिशाली व्यक्ति मांस को खा सकता है ? ॥३३॥

अन्तर्मुहूर्तात् परतः सुसूक्ष्माजन्तुराशयः ।
यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिः ॥३४॥

अर्थ – जिसमें अन्तमुहूर्त के बाद अतिसूक्ष्म जन्तुसमूह समूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होता है, वह मक्खन विवेकी पुरुषों को नहीं खाना चाहिए ॥३४॥

एकस्यापि हि जीवस्य, हिंसने किमघं भवेत् ।
जन्तुजातमयं तत्को, नवनीतं निषेवते ? ॥३५॥

अर्थ - एक भी जीव का वध करने में कितना अधिक पाप लगता है ? उसे कहना दुःशक्य है, तो फिर अनेक जन्तुओं के पिण्डमय नवनीत का सेवन कौन विवेकी कर सकता है ? ॥३५॥

अनेकजन्तुसङ्घात निघातनसमुद्भवम् ।
जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वादयति माक्षिकम् ? ॥३६॥

अर्थ - अनेक जन्तु-समूह के विनाश से तैयार हुए और मुंह से टपकने वाली लार के समान घिनौने मक्खी के मुख की लार से बने हुए शहद को कौन विवेकी पुरुष चाटेगा ? उपलक्षण से यहाँ भौंरे आदि का मधु भी समझ लेना चाहिए ॥३६॥

भक्षयन् माक्षिकं क्षुद्रजन्तुलक्षक्षयोद्भवम् ।
स्तोकजन्तुनिहन्तृभ्यः शौनिकेभ्योऽतिरिच्यते ॥३७॥

अर्थ - जिनके हड्डियाँ न हों, ऐसे जीव क्षुद्रजन्तु कहलाते हैं अथवा तुच्छ हीन जीव भी क्षुद्र माने जाते हैं । ऐसे लाखों क्षुद्रजन्तुओं के (धुंआ करने से होने वाले) विनाश से उत्पन्न हुए मद्य का सेवन करने वाला आदमी थोड़े-से पशु को मारने वाले कसाई से बढ़कर पापात्मा है । भक्षण करने वाला भी उत्पादक की तरह घातक है, यह बात पहले कह दी गयी है ॥३७॥

एकैक-कुसुमक्रोड़ाद् रसमापीय मक्षिकाः ।
यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं, तदश्नन्ति न धार्मिकाः ॥३८॥

अर्थ - एक-एक फूल पर बैठकर उसके मकरन्दरस को पीकर मधुमक्खियाँ उसका वमन करती हैं, उस वमन किये हुए उच्छिष्ट मधु (शहद) का सेवन धार्मिक पुरुष नहीं करते । लौकिक व्यवहार में भी पवित्र भोजन ही धार्मिक पुरुष के लिए सेवनीय बताया है ॥३८॥

अप्यौषधकृते जग्धं, मधु श्वभ्रनिबन्धनम् ।
भक्षितः प्राणनाशाय, कालकूटकणोऽपि हि ॥३९॥

अर्थ - रसलोलुपता की बात तो दूर रही, औषध के रूप में भी रोगनिवारणार्थ मधुभक्षण पतन के गर्त में डालने का कारण है । क्योंकि प्रमादवश या जीने की इच्छा से कालकूटविष का जरा-सा कण भी खाने पर प्राणनाशक होता है ॥३९॥

मधुनोऽपि हि माधुर्यमबोधैरहहोच्यते ।
आसाद्यन्ते यदास्वादाच्चिरं नरकवेदनाः ॥४०॥

अर्थ - यह सच है मधु व्यवहार से प्रत्यक्ष में मधुर लगता है । परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से नरक-सी वेदना का कारण होने से अत्यन्त कड़वा है । खेद है, परमार्थ से अनभिज्ञ अबोधजन ही परिणाम में कटु मधु को मधुर कहतें है । मधु का आस्वादन करने वाले को चिरकाल तक नरक सम वेदना भोगनी पडती है ॥४०॥

मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं, जन्तुघातोद्भवं मधु ।
अहो ! पवित्रं मन्वाना, देवस्नाने प्रयुञ्जते ॥४१॥

अर्थ – अहो ! आश्चर्य है कि मधुमक्खी के मुंह से वमन किये हुए और अनेक जन्तुओं की हत्या से निष्पन्न मधु को पवित्र मानने वाले लोग शंकर आदि देवों के अभिषेक में उसका उपयोग करते हैं ॥४१॥

उदुम्बर-वट-प्लक्षकाकोदुम्बरशाखिनाम् ।
पिप्पलस्य च नाश्नीयात्, फलं कृमिकुलाकुलम् ॥४२॥

अर्थ – उदुंबर (गुल्लर), बड़, अंजीर और काकोदुंबर (कठूमर) पीपल, इन पाँचों वृक्षों के फल अगणित जीवों से भरे हुए होते हैं । इसलिए ये पाँचों ही उदूंबरफल त्याज्य हैं ॥४२॥

अप्राप्नुवन्नन्यभक्ष्यमपि क्षामो बुभुक्षया ।
न भक्षयति पुण्यात्मा पञ्चोदुम्बरजं फलम् ॥४३॥

अर्थ – जो पुण्यात्मा (पवित्र पुरुष) व्रतपालक सुलभ धान्य और फलों से समृद्ध देशकाल में पांच उदुंबरफल खाना तो दूर रहा, विषम (दुर्भिक्ष पड़े हुए) देश और काल में भक्ष्य अन्न, फल आदि नहीं मिलते हों, कड़ाके की भूख लगी हो, भूख के मारे शरीर कृश हो रहा हो, तब भी पंचोदुंबरफल नहीं खाते, वे प्रशनंसनीय है ॥४३॥

आर्द्र-कन्दः समग्रोऽपि, सर्वः किशलयोऽपि च ।
स्नुही लवणवृक्षत्वक्, कुमारी गिरिकर्णिका ॥४४॥

शतावरी विरूढानि, गुडूची कोमलाम्लिका ।
पल्यङ्कोऽमृतवल्ली च, वल्लः शूकरसञ्ज्ञितः ॥४५॥
अनन्तकायाः सूत्रोक्ता अपरेऽपि कृपापरैः ।
मिथ्यादृशामविज्ञाता, वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥४६॥

अर्थ – समस्त हरे कन्द, सभी प्रकार के नये पल्लव (पत्ते), थूहर, लवणवृक्ष की छाल, कुंआरपाठा, गिरिकर्णिका लता, शतावरी, फूटे हुए अंकुर, द्विदल वाले अनाज, गिलोय, कोमल इमली, पालक का साग, अमृतबेल, शूकर जाति के वाल इन्हें सूत्रों में अनन्तकाय कहा है। और भी अनन्तकाय हैं, जिनसे मिथ्यादृष्टि अनभिज्ञ हैं, उन्हें भी दयापरायण श्रावकों को यतना पूर्वक छोड़ देना चाहिए ॥४४-४६॥

स्वयं परेण वा ज्ञातं, फलमद्याद्विशारदः ।
निषिद्धे विषफले वा, माभूदस्य प्रवर्तनम् ॥४७॥

अर्थ – स्वयं को या दूसरे को जिस फल की पहचान नहीं है, जिसे कभी देखा, सुना या जाना नहीं है, उस फल को न खाये । बुद्धिशाली व्यक्ति वहीं फल खाये, जो उसे ज्ञात है । चतुर आदमी अनजाने में (अज्ञानतावश) अगर अज्ञात फल खा लेगा तो, निषिद्धफल खाने से उसका व्रतभंग होगा, तथा कदाचित् कोई जहरीला फल खाने में आ जाय तो उससे प्राणनाश हो जायेगा। इसी दृष्टि से अज्ञातफलभक्षण में प्रवृत्त होने का निषेध किया गया है ॥४७॥

अन्नं प्रेत-पिशाचाद्यैः, सञ्चरद्भिर्निरङ्कुशैः ।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्याद् दिनात्यये ॥४८॥

अर्थ – रात में स्वच्छंद घूमने वाले प्रेत, व्यन्तर, पिशाच, राक्षस आदि अधमजातीय देव वगैरह द्वारा स्पर्शादि से भोजन झूठा कर दिया जाता है, इसलिए रात में भोजन नहीं करना चाहिए ॥४८॥

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तवः ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ? ॥४९॥

अर्थ – घोर अन्धेरे में आंखें काम नहीं करतीं, तेल, घी, छाछ आदि भोज्य पदार्थों में कोई चींटी, कीड़ा, मक्खी आदि जीव पड़ जाय तो वे आंखों से दिखाई नहीं देते। ऐसे मैं कौन समझदार आदमी रात को भोजन करेगा ? ॥४९॥

मेघां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥५०॥
कङ्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥५१॥
विलग्नश्च गले वालः, स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने ॥५२॥

अर्थ – रात को भोजन करते समय भोजन में यदि चींटी खायी जाय तो वह बुद्धि का नाश कर देती है। जूं निगली जाय तो वह जलोदर रोग पैदा कर देती है। मक्खी खाने में आ जाय

तो उलटी होती है, कानखजूरा खाने में आ जाय तो कोढ़ हो जाता है। कांटा या लकड़ी का टुकड़ा गले में पीड़ा कर देता है, अगर सागभाजी में बिच्छू पड़ जाय तो वह तालु को फाड़ देता है, गले में बाल चिपक जाय तो उससे आवाज खराब हो जाती है। रात्रिभोजन करने में ये और इस प्रकार के कई दोष जो सबको प्रत्यक्ष विदित है ॥५०-५२॥

नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि, निश्यद्यात्प्रासुकान्यपि ।
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशाऽशनम् ॥५३॥

अर्थ – रात को आंखों से दिखायी न दें, ऐसे सूक्ष्मजन्तु भोजन में होने से चाहे विविध प्रासुक (निर्जीव) भोजन ही हो, रात को नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्होंने ज्ञानचक्षुओं से जानते-देखते हुए भी रात्रिभोजन न तो स्वीकार किया है, न विहित किया है ॥५३॥

धर्मविन्नैव भुञ्जीत, कदाचन दिनात्यये ।
बाह्या अपि निशाभोज्यं, यदभोज्यं प्रचक्षते ॥५४॥

अर्थ – जिनशासन को न मानने वाले अन्यमतीय लोग भी रात्रिभोजन को अभोज्य कहते हैं। अतः धर्मज्ञ श्रावक सूर्य अस्त हो जाने के बाद कदापि भोजन न करे ॥५४॥

त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत् ॥५५॥

अर्थ – वेद के ज्ञाता सूर्य को ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इस वेदत्रयी के तेज से ओत-प्रोत मानते हैं। इसलिए सूर्य का एक नाम 'त्रयीतनु' भी है। अतः उस सूर्य की किरणों से पवित्र हुए शुभकार्यों को ही करना चाहिए। उनके अभाव में शुभ कार्य नहीं करे ॥५५॥

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥५६॥

अर्थ – आहुति अर्थात् अग्नि में काष्ठ आदि इन्धन डालना, स्नान, अंगप्रक्षालन, श्राद्ध कर्म-पितर आदि देवों की पूजा, देवपूजा, दान, यज्ञ आदि शुभकार्य विशेषतः रात्रि में भोजन अविहित है, अकरणीय है ॥५६॥

दिवस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्तं तु तद् विजानीयात्, न नक्तं निशिभोजनम् ॥५७॥

अर्थ – दिवस के आठवें भाग में जब सूर्य मन्द हो गया हो, उसे ही 'नक्त' जानना चाहिए। 'नक्त' का अर्थ निशा (रात्रि) भोजन नहीं है ॥५७॥

देवैस्तु भुक्तं पुर्वाह्ने, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्ने च पितृभिः, सायाह्ने दैत्य दानवैः ॥५८॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वहः।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥५९॥

अर्थ – दिन के पहले प्रहर में देव भोजन करते हैं, मध्याह्न (दोपहर) में ऋषि आहार करते हैं, अपराह्न (तृतीय प्रहर) में पितर भोजन करते हैं और सायंकाल (विकाल) में दैत्यदानव खाते हैं, दिन और रात के सन्धिकाल में यक्ष और राक्षस खाते हैं। इसलिए हे कुलनिर्वाहक युधिष्ठिर! देवादि के भोजन के इन सभी समयों का उल्लंघन करके रात्रि को भोजन करना निषिद्ध है ॥५८-५९॥

हृन्नाभिपद्मसङ्कोचः चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥६०॥

अर्थ – सूर्य के अस्त हो जाने पर शरीरस्थित हृदयकमल और नाभिकमल सिकुड़ जाते हैं और उस भोजन के साथ सूक्ष्मजीव भी खाने में आ जाते हैं, इसलिए भी रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए ॥६०॥

संसजज्जीवसङ्घातं, भुञ्जाना निशिभोजनम्।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते? ॥६१॥

अर्थ – जिस रात्रिभोजन के करने में अनेक जीवसमूह आकर भोजन में गिर जाते हैं, उस रात्रिभोजन को करने वाले मूढ़ात्मा राक्षसों से बढ़कर नहीं तो क्या है? ॥६१॥

वासरे च रजन्यां च यः खादन्नेव तिष्ठति।
शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥६२॥

अर्थ – जो दिन और रात चरता ही रहता है, वह वास्तव में बिना सींग-पूंछ का पशु ही है ॥६२॥

अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥६३॥

अर्थ – रात्रिभोजन के दोषों से अभिज्ञ जो मनुष्य दिन के प्रारम्भ और रात्रि के अन्त की दो-दो घडिया छोड़कर भोजन करता है, वह विशेष पुण्यभागी होता है ॥६३॥

अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद् दिनभोज्यपि ।
फलं भजेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥६४॥

अर्थ – रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान (त्याग) किये बिना ही जो दिन में भोजन कर लेता है, उसे प्रत्याख्यान विशेष का फल नहीं मिल सकता। साधारण फल तो मिलता ही है, जैसे वचन से ब्याज की बात खोले बिना अमानत रखी हुई धनराशि में वृद्धि नहीं होती, वह मूल रूप में ही सुरक्षित रहती है। उसी तरह नियम लिये बिना ही दिन में भोजन करने वाले को नियमग्रहण का विशेष फल नहीं मिलता ॥६४॥

ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुञ्जते ।
ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ॥६५॥

अर्थ – जो मनुष्य सूर्य से प्रकाशमान दिन को छोड़कर रात्रि को ही भोजन करते हैं, वे जड़ात्मा माणिक्यरत्न को छोड़कर काच को ग्रहण करते हैं ॥६५॥

वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुञ्जते ।
ते वपन्त्यूषरे क्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥६६॥

अर्थ – दिन की अनुकूलता होने पर भी जो किसी कल्याण की आशा से रात को खाता है, वह ऐसा ही है, जैसे कोई उपजाऊ भूमि को छोड़कर ऊषरभूमि में धान बोता है ॥६६॥

उलूक-काक-मार्जार-गृध्र-शम्बर-शूकराः ।
अहि-वृश्चिक-गोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥६७॥

अर्थ – रात्रिभोजन करने वाले मनुष्य अगले जन्म में उल्लू, कौए, बिल्ली, गीध, राक्षस, सूअर, सर्प, बिच्छू और गोह या मगरमच्छर आदि अधमजातीय तिर्यंचयोनियों में जन्म लेते हैं ॥६७॥

श्रुयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः ।
निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥६८॥

अर्थ – सुना जाता है, वनमाला ने लक्ष्मण से दूसरे तमाम शपथों को स्वीकार न करके रात्रिभोजन से होने वाले पाप की शपथ (सौगंध) करवायी थी ॥६८॥

करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशिभोजनात् ।
सोऽर्द्ध पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥६९॥

अर्थ – जो सदा के लिए रात्रिभोजन का त्याग (प्रत्याख्यान) करता है, वह पुरुष धन्य है। सचमुच, वह अपनी पूरी आयु के आधे भाग (यानी प्रत्येक रात्रि) में उपवासी रहता है ॥६९॥

रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् ।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥७०॥

अर्थ – रात्रिभोजन त्याग में जो गुण हैं, उन सभी प्रकार के गुणों का पूर्णतया कथन तो सर्वज्ञ के सिवाय और कोई नहीं कर सकता ॥७०॥

आमगोरससम्पृक्तद्विदलादिषु जन्तवः ।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत् ॥७१॥

अर्थ – कच्चे दही के साथ मिश्रित मूंग, उड़द आदि द्विदल वगैरह में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति केवलज्ञानियों ने देखी है, अतः उनका त्याग करे ॥७१॥

जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत् ।
सन्धानमपि संसक्तं, जिनधर्मपरायणः ॥७२॥

अर्थ – जिनधर्म में तत्पर श्रावक दूसरे जीवों से मिश्रित या संसक्त फल (बेर आदि), फूल, पत्ते, आचार या और भी ऐसे पदार्थ का त्याग करे ॥७२॥

आर्त्तरौद्रमपध्यानं, पापकर्मोपदेशिता ।
हिंस्रोपकारिदानं च, प्रमादाचरणं तथा ॥७३॥
शरीराद्यर्थदण्डस्य, प्रतिपक्षतया स्थितः ।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ॥७४॥

अर्थ – आर्त्त-रौद्रध्यान रूप अपध्यान करना, पापजनक कार्य का उपदेश या प्रेरणा देना, हिंसा के साधन

दूसरों को देना, प्रमादाचरण करना, यह चार प्रकार का अनर्थदण्ड कहलाता है । शरीर आदि के लिए जो आरम्भ या सावद्य प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से करनी पड़े, वह अर्थदण्ड है, लेकिन जिसमें अपना या पराया किसी का भी सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं, जिस पाप से अकारण ही आत्मा दण्डित हो, वह अनर्थदण्ड है । उसका त्याग करना ही तीसरा गुणव्रत कहलाता है ॥७३-७४॥

वैरिघातो नरेन्द्रत्वं, पुरघाताऽग्निदीपने ।
खेचरत्वाद्यपध्यानं, मुहूर्तात्परतस्त्यजेत् ॥७५॥

अर्थ – शत्रु का नाश करना, राज्यपद के लिए उखाड़-पछाड़ या खटपट करना, वर्तमान में नगर में तोड़फोड़ या दंगे करना, नाश करना, आग लगाना अथवा अन्तरिक्षयात्रा-अज्ञात अन्तरिक्ष में गमन आदि के चिन्तन रूपी कुध्यान में डूबे रहना, अपध्यान है । ऐसा दुर्ध्यान आ भी जाये तो मुहूर्त्त के बाद तो उसे अवश्य ही छोड़ दे । दुश्मन की हत्या करने, नगर को उजाड़ने या नगर में तोड़फोड़, दंगे, हत्याकाण्ड आदि करने, आग लगाने या किसी वस्तु को फूंक देने का विचार करना रौद्रध्यान रूप अपध्यान है । चक्रवर्ती बनूं या आकाशगामिनी विद्या का अधिकारी बन जाऊँ, ऋद्धि-सम्पन्न देव बन जाऊँ अथवा देवांगनाओं या विद्याधरियों के साथ सुखभोग करने वाला, उनका स्वामी बनूं । इस प्रकार का दुश्चिन्तन आर्त्तध्यान है । इस प्रकार के दुश्चिन्तनों को

मुहूर्त के बाद तो अवश्य छोड़ देना चाहिए ॥७५॥

वृषभान् दमय क्षेत्रं, कृष षण्ढय वाजिनः ।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न कल्पते ॥७६॥

अर्थ – बछड़ों को वश में करो, खेत जोतो, घोड़ों को खस्सी करो, इत्यादि पापजनक उपदेश दाक्षिण्य (अपने पुत्रादि) के सिवाय दूसरों को पापोपदेश देना श्रावक के लिए कल्पनीय (विहित) नहीं है ॥७६॥

यन्त्र-लाङ्गल-शस्त्राग्नि-मुसलोदूखलादिकम् ।
दाक्षिण्याविषये हिंस्त्रं, नार्पयेत् करुणापरः ॥७७॥

अर्थ – पुत्र आदि स्वजन के सिवाय अन्य लोगों को यन्त्र (कोल्हू), हल, तलवार आदि हथियार, अग्नि, मूसल, ऊखली आदि शब्द से धनुष्य, धौंकनी, छुरी आदि हिंसा की वस्तुएँ दयालु श्रावक नहीं दे ॥७७॥

कुतूहलाद् गीत-नृत्त-नाटकादिनिरीक्षणम् ।
कामशास्त्रप्रसक्तिश्च, द्यूतमद्यादिसेवनम् ॥७८॥
जलक्रीडान्दोलनादि विनोदो जन्तुयोधनम् ।
रिपोः सुतादिना वैरं, भक्तस्त्रीदेशराट्कथा ॥७९॥
रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा, स्वापश्च सकलां निशाम् ।
एवमादि परिहरेत्, प्रमादाचरणं सुधीः ॥८०॥

अर्थ – कुतूहलपूर्वक गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, कामशास्त्र में आसक्त रहना, जूआ, मदिरा आदि का सेवन करना, जलक्रीड़ा करना, झूले आदि का विनोद करना, पशुपक्षियों

को आपस में लड़ाना, शत्रु के पुत्र आदि के साथ भी वैर-विरोध रखना, स्त्रियों की, खाने-पीने की, देश एवं राजा की व्यर्थ की ऊलजलूल विकथा करना, रोग या प्रवास की थकान को छोड़कर सारी रातभर सोते रहना, इस प्रकार के प्रमादाचरण का बुद्धिमान पुरुष त्याग करे ॥७८-८०॥

विलास-हास-निष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-दुष्कथाः ।
जिनेन्द्र-भवनस्यान्तराहारं च चतुर्विधम् ॥८१॥

अर्थ – जिनालय में विलास, हास्य, थूकना, निद्रा, कलह, दुष्कथा और चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए ॥८१॥

त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्यत्यक्त-सावद्यकर्मणः ।
मुहूर्त्तं समता या तां, विदुः सामायिकव्रतम् ॥८२॥

अर्थ – आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग करके सर्व प्रकार के पाप-व्यापारों को त्यागकर एक मुहूर्त तक समता धारण करने को महापुरुषों ने सामायिकव्रत कहा है ॥८२॥

सामायिकव्रतस्थस्य, गृहिणोऽपि स्थिरात्मनः ।
चन्द्रावतंसकस्येव, क्षीयते कर्म सञ्चितम् ॥८३॥

अर्थ – गृहस्थ होने पर भी सामायिक-व्रत में स्थित आत्मा के चन्द्रावतंसक राजा की तरह पूर्वसंचित कृत कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥८३॥

दिग्व्रते परिमाणं यत्, तस्य सङ्क्षेपणं पुनः ।
दिने रात्रौ च दिशावकाशिकव्रतमुच्यते ॥८४॥

अर्थ – दिग्व्रत में गमन की जो मर्यादा की हो, उसमें से भी एक अहोरात्रि के लिए संक्षेप करना देशावकाशिक-व्रत कहलाता है ॥८४॥

चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधनम् ।
ब्रह्मचर्यक्रियास्नानादित्यागः पौषधव्रतम् ॥८५॥

अर्थ – चार पर्व-दिनों में चतुर्थभक्त-प्रत्याख्यान आदि उपवास-तप, कुप्रवृत्ति का त्याग, ब्रह्मचर्य-पालन एवं स्नानश्रृंगारादि का त्याग किया जाय, उसे पौषधव्रत कहते हैं ॥८५॥

गृहिणोऽपि हि धन्यास्ते, पुण्यं ये पौषधव्रतम् ।
दुष्पालं पालयन्त्येव, यथा स चुलनीपिता ॥८६॥

अर्थ – गृहस्थ होते हुए भी वे धन्य हैं, जो चुलनीपिता के समान कठिनता से पाले जा सके, ऐसे पवित्र पौषधव्रत का पालन करते हैं ॥८६॥

दानं चतुर्विधाऽऽहारपात्राऽच्छादनसद्मनाम् ।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥८७॥

अर्थ – चार प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि कल्पनीय वस्तुएँ साधु-साध्वियों को दान देना, अतिथिसंविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा है ॥८७॥

पश्य सङ्गमको नाम, सम्पदं वत्सपालकः ।
चमत्कारकरीं प्राप, मुनिदानप्रभावतः ॥८८॥

अर्थ – देखो, बछड़े चराने वाले (ग्वाले) संगम ने

मुनिदान के प्रभाव से आश्चर्यजनक चमत्कारी संपत्ति प्राप्त कर ली ॥८८॥

व्रतानि सातिचाराणि, सुकृताय भवन्ति न ।
अतिचारास्ततो हेयाः पञ्च पञ्च व्रते व्रते ॥८९॥

अर्थ – अतिचारों (दोषों) के साथ व्रतों का पालन सुकृत का हेतु नहीं होता । इसलिए प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार हैं, उनका त्याग करना चाहिए ॥८९॥

क्रोधाद् बन्ध-छविच्छेदोऽधिकभाराधिरोपणम् ।
प्रहारोऽन्नादिरोधश्चाहिंसायां परिकीर्तिताः ॥९०॥

अर्थ – १. क्रोधपूर्वक किसी जीव को बाँधना, २. उसके अंग काट देना, ३. उसके बलबूते से अधिक बोझ लाद देना, ४. उसे चाबुक आदि से बिना कसूर ही मारना पीटना और ५. उसका खाना-पीना बंदकर देना, ये पाँच अतिचार अहिंसाणुव्रत के बताये गये हैं ॥९०॥

मिथ्योपदेशः सहसाऽभ्याख्यानं गुह्यभाषणम् ।
विश्वस्तमन्त्रभेदश्च, कूटलेखश्च सूनृते ॥९१॥

१. मिथ्या (संयम या धर्म के विपरीत, पाप का) उपदेश देना, २. बिना विचार किये एकदम किसी पर दोषारोपण करना, ३. किसी की गुप्त या मर्म (रहस्य) बात प्रकट कर देना, ४. अपने पर विश्वास करके कही हुई गोपनीय मंत्रणा दूसरे से कह देना और ५. झूठे दस्तावेज,

झूठे बहीखाते या झूठे लेख लिखना, ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥९१॥

स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं द्विड् राज्यलङ्घनम् ।
प्रतिरूपक्रिया मानान्यत्वं चास्तेयसंश्रिताः ॥९२॥

अर्थ – १. चोर को चोरी करने की अनुमति या सलाह देना, २. चोरी करने में उसे सहायता देना अथवा चोरी करने के बाद उसको सहयोग देना, ३. अपने राज्य को छोड़कर शत्रु के राज्य में जाना अथवा राज्यविरुद्ध कार्य करना, ४. अच्छी वस्तु बताकर खराब वस्तु देना, ५. खोटे बांट और खोटे गज (नापतौल) रखना या नापतौल में गड़बड़ करना, ये पाँच अस्तेयाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥९२॥

इत्वरात्तागमोऽनात्तागतिरन्यविवाहनम् ।
मदनात्याग्रहोऽनङ्गक्रीड़ा च ब्रह्मणि स्मृताः ॥९३॥

अर्थ – १. कुछ अर्से के लिए रखी हुई परस्त्री (रखैल) या वेश्या से संगम करना, २. जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है, ऐसी स्त्री से सहवास करना, ३. अपने पुत्रादि कुटुम्बीजन के अतिरिक्त लोगों के विवाह करना अथवा अपनी स्त्री में सन्तुष्ट न होकर उसकी अनुमति के बिना तीव्रविषया-भिलाषावश दूसरी स्त्री से शादी कर लेना, ४. कामक्रीड़ा में तीव्र अभिलाषा रखना और ५. अनंगक्रीड़ा करना, ये चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रत के ५ अतिचार कहे हैं ॥९३॥

धन-धान्यस्य कुप्यस्य गवादेः क्षेत्र-वास्तुनः ।
हिरण्य-हेम्नश्च सङ्ख्याऽतिक्रमोऽत्र परिग्रहे ॥९४॥

अर्थ – धन और धान्य की, गृहोपयोगी साधनों की, गाय-भेंस, दास-दासी आदि की, खेत, मकान, जमीन आदि की और सोना-चांदी आदि परिग्रह की जो मर्यादा (परिमाण) निश्चित की हो, उससे अधिक रखना, ये पाचवें व्रत के क्रमशः पाँच अतिचार हैं ॥९४॥

बन्धनाद् भावतो गर्भाद्योजनाद् दानतस्तथा ।
प्रतिपन्नव्रतस्यैष, पञ्चधाऽपि न युज्यते ॥९५॥

अर्थ – पहले कहे अनुसार जिसने पाँचवाँ व्रत अंगीकार किया है, उसे बन्धन से, भाव से, गर्भ से, योजन से और दान की अपेक्षा से ये पाँच अतिचार लगते हैं । जिन्हें सेवन करना व्रतधारी के लिए उचित नहीं है ॥९५॥

स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भाग-व्यतिक्रमः ।
क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्चेति, स्मृता दिग्विरति-व्रते ॥९६॥

अर्थ – १. निश्चित की हुई सीमा भूल जाना, २.३.४. ऊपर नीचे और तिरछे (तिर्यक्) दशों दिशाओं में आने-जाने के नियम की मर्यादा का उल्लंघन करना, ये तीन अतिचार और ५. क्षेत्र की वृद्धि करना, इस तरह प्रथम गुणव्रत के ५ अतिचार हैं ॥९६॥

सचित्तस्तेन सम्बद्धः सम्मिश्रोऽभिषवस्तथा ।
दुष्पक्वाहार इत्येते, भोगोपभोगमानगाः ॥९७॥

अर्थ - १. सचित्त अर्थात् सजीव, २. सचित्त से संबद्ध-अचित आहार में रहे हुए बीज, गुठली आदि सचित्त पदार्थ, ३. थोड़ा सचित्त और थोड़ा अचित्त-मिश्र आहार, ४. अनेक द्रव्यों से निर्मित मादक पदार्थ एवं ५. दुष्पक्व-आधा पका, आधा कच्चा आहार अथवा अधिक पका हुआ आहार, इन पाँचों का भोगोपभोग करना, दूसरे गुणव्रत के क्रमशः ५ अतिचार हैं ॥९७॥

अमी भोजनतस्त्याज्याः, कर्मतः खरकर्म तु ।
तस्मिन् पञ्चदशमलान्, कर्मादानानि सन्त्यजेत् ॥९८॥

अर्थ - उपर्युक्त पाँच अतिचार भोजन की अपेक्षा से त्याज्य है । किन्तु कर्म की अपेक्षा से प्राणिघातक कठोरकर्म में परिगणित (परिसीमित) १५ कर्मादान हैं, जो व्रत में मलिनता पैदा करने वाले हैं, अतः उनका भलीभांति त्याग करना चाहिए ॥९८॥

अङ्गार-वन-शकट-भाटक-स्फोटजीविका,
दन्त-लाक्षा-रस-केश-विषवाणिज्यकानि च ॥९९॥
यन्त्रपीडा-निर्लाञ्छनमसतीपोषणं तथा,
दवदानं सरःशोष, इति पञ्चदश त्यजेत् ॥१००॥

अर्थ - १. अंगारजीविका, २. वनजीविका, ३. शकटजीविका, ४. भाटकजीविका, ५. स्फोटकजीविका, (श्लोक के पूर्वार्ध में उक्त 'जीविका' शब्द है, इसी तरह उत्तरार्द्ध में 'वाणिज्यक' शब्द है, जिसे प्रत्येक के साथ

जोड़ना चाहिए ।) ६. दन्तवाणिज्य, ७. लाक्षावाणिज्य, ८. रसवाणिज्य, ९. केशवाणिज्य, १०. विषवाणिज्य, ११. यन्त्रपीड़ाकर्म, १२. निर्लांछनकर्म, १३. असीपोषण, १४. दवदान, (दावाग्नि लगाने का कर्म), १५. सरःशोष-(तालाब आदि का सुखाना) । श्रावक को इन १५ कर्मादान रूप अतिचारों का त्याग करना चाहिए ॥९९-१००॥

अङ्गार-भ्राष्ट्रकरणं कुम्भायःस्वर्णकारिता ।
ठठार-त्वेष्टकापाकाविति ह्यंगारजीविका ॥१०१॥

अर्थ - लकड़ी को जलाकर कोयले बनाना और उसका ब्यापार करना, भड़भूंजे, कुम्भार, लुहार, सुनार, ठठेरे और ईटें पकाने वाले इत्यादि के कर्म अंगारजीविका कहलाती है ॥१०१॥

छिन्नाच्छिन्नवन-पत्र-प्रसून-फलविक्रयः ।
कणानां दलनात् पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका ॥१०२॥

अर्थ - जंगल में कटे हुए या नहीं कटे हुए वृक्ष के पत्ते, फूल, फल आदि को बेचना, चक्की में अनाज दलकर या पीसकर आजीविका चलाना इत्यादि जीविका वन-जीविका है । वनजीविका में मुख्यतः वनस्पतिकाय का विघात होने की संभावना है ॥१०२॥

शकटानां तदङ्गानां घटनं खेटनं तथा ।
विक्रयश्चेति शकटजीविका परिकीर्तिता ॥१०३॥

अर्थ – शकट यानी गाड़ी और उसके विविध अंग-पहिये, आरे आदि स्वयं बनाना, दूसरों से बनवाना अथवा बेचना या बिकवाना इत्यादि व्यवसाय को शकटजीविका कहा है ॥१०३॥

शकटोक्षलुलायोष्ट्रखराश्वतरवाजिनाम् ।
भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटकजीविका ॥१०४॥

अर्थ – गाड़ी, बैल, ऊंट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि पर भार लादकर किराया लेना अथवा इन्हें किराये पर देकर आजीविका चलाना, और मोटर आदि वाहन किराये से देना भाटक जीविका कहलाता है ॥१०४॥

सरःकूपादिखनन-शिलाकुट्टनकर्मभिः ।
पृथिव्यारम्भसम्भूतैर्जीवनं स्फोटजीविका ॥१०५॥

अर्थ – तालाब, कुएँ आदि खोदने, पत्थर, फोड़ने इत्यादि पृथ्वीकाय के घातक कर्मों से जीविका चलाना, स्फोटक-जीविका है ॥१०५॥

दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे ।
त्रसाङ्गस्य वणिज्यार्थं, दन्तवाणिज्यमुच्यते ॥१०६॥

अर्थ – दांत, केश नख, हड्डी, चमड़ा, रोम इत्यादि जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति-स्थानों पर जाकर व्यवसाय के लिए ग्रहण करना और बेचना दंत-वाणिज्य कहलाता है ॥१०६॥

लाक्षा-मनः शिला-नीली-धातकी-टङ्कणादिनः ।
विक्रयः पापसदनं, लाक्षावाणिज्यमुच्यते ॥१०७॥

अर्थ – लाख, मेनसिल, नील, धातकीवृक्ष, टंकणखार आदि पापकारी वस्तुओं का व्यापार करना, लाक्षावाणिज्य कहलाता है ॥१०७॥

नवनीत-वसा-क्षौद्र-मद्यप्रभृतिविक्रयः ।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रेयो वाणिज्यं रसकेशयोः ॥१०८॥

अर्थ – मक्खन, चर्बी, शहद, मदिरा आदि का व्यापार रसवाणिज्य और दो पैर वाले और चार पैर वाले जीवों का व्यापार केशवाणिज्य कहलाता है ॥१०८॥

विषास्त्रहलयन्त्रायोहरितालादिवस्तुनः ।
विक्रयोजीवितघ्नस्य, विषवाणिज्यमुच्यते ॥१०९॥

अर्थ – शृंगिक, सोमल आदि विष, तलवार आदि शस्त्र, हल, रेंहट, अंकुश, कुल्हाड़ी वर्तमान में पिस्तोल, बंदूक आदि तथा हरताल आदि वस्तुओं के विक्रय से जीवों का घात होता है । इसे विष-वाणिज्य कहते हैं ॥१०९॥

तिलेक्षु-सर्षपैरण्डजलयन्त्रादिपीडनम् ।
दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता ॥११०॥

अर्थ – घाणी में पीलकर तेल निकालना, कोल्हू में पीलकर इक्षु-रस निकालना, सरसों , एरंड आदि का तेल यन्त्र से निकलना, जलयन्त्र-रेंहट चलाना, तिलों को दलकर तेल निकालना और बेचना, ये सब यन्त्रपीड़नकर्म हैं । इन

यन्त्रों द्वारा पीलने में तिल आदि में रहे हुए अनेक त्रसजीवों का वध होता है। इसलिए इस यन्त्रपीड़नकर्म का श्रावक को त्याग करना चाहिए। मील, ट्रेक्टर से खेती, प्रेस आदि सब यन्त्र कर्म है। लौकिक शास्त्रों में भी कहा है कि चक्रयन्त्र चलाने से कसाईघरों के जितना पाप लगता है ॥११०॥

नासावेधोऽङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्टगालनम् ।
कर्ण-कम्बल-विच्छेदो, निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥१११॥

अर्थ – जीव के अंगों या अवयवों का छेदन करने का धंधा करना, उस कर्म से अपनी आजीविका चलाना, निर्लांछन कर्म कहलाता है। उसके भेद बताते हैं – बैल-भैंस का नाक बींधना, गाय-घोड़े के निशान लगना, उसके अंडकोष काटना, ऊंट की पीठ गालना, गाय आदि के कान, गलकंबल आदि काट डालना, इसके ऐसा करने से प्रकट रूप में जीवों को पीड़ा होती है, अतः विवेकीजन इसका त्याग करे ॥१११॥

सारिकाशुकमार्जारश्व-कुर्कुट-कलापिनाम् ।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः ॥११२॥

अर्थ – असती अर्थात् दुष्टाचार वाले, तोता, मैना, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, मोर आदि तिर्यंच पशु-पक्षियों का पोषण (पालन) करना तथा धनप्राप्ति के लिए व्यभिचार के द्वारा दास-दासी से आजीविका चलाना असतीपोषण है। यह पाप का हेतु है। अतः इसका त्याग करना चाहिए ॥११२॥

व्यसनात् पुण्यबुद्ध्या वा दवदानं भवेद् द्विधा ।
सरःशोष सरःसिन्धु-ह्रदादेरम्बुसम्प्लवः ॥११३॥

अर्थ – दवदान दो प्रकार से होता है – आदत से अथवा पुण्यबुद्धि से तथा सरोवर, नदी, ह्रद या समुद्र आदि में से पानी निकालकर सूखाना सरःशोष है ॥११३॥

संयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता ।
मौखर्यमथ कौत्कुच्यं, कन्दर्पोऽनर्थदण्डगाः ॥११४॥

अर्थ – १. हिंसा के साधन या अधिकरण संयुक्त रखना, २. आवश्यकता से अधिक उपभोग के साधन रखना, ३. बिना विचारे बोलना, ४. भांड की तरह चेष्टा करना, ५. कामोत्तेजक शब्दों का प्रयोग करना, ये पाँच अतितार अनर्थदण्डविरति के हैं ॥११४॥

काय-वाङ्-मनसां दुष्टप्रणिधानमनादरः ।
स्मृत्यनुपस्थापनं च स्मृताः सामायिकव्रते ॥११५॥

अर्थ – काया, वचन और मन का दुष्टप्रणिधान, अनादर और स्मृतिभंग होना, ये सामायिकव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥११५॥

प्रेष्यप्रयोगानयने पुद्गलक्षेपणं तथा ।
शब्दरूपानुपातौ च व्रते देशावकाशिके ॥११६॥

अर्थ – दूसरे शिक्षाव्रत देशावकाशिक में – १. प्रेष्य-प्रयोग, २. आनयन, ३. पुद्गलक्षेपण, ४. शब्दानुपात और ५. रूपानुपात ये पाँच अतिचार लगते हैं ॥११६॥

उत्सर्गादानसंस्तारानवेक्ष्याप्रमृज्य च ।
अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति पौषधे ॥११७॥

अर्थ – पौषधव्रत में देखे या प्रमार्जन किये बिना परठना, उसी तरह अयतना से वस्तु ग्रहण करना या रखना, अयतना से आसन बिछाना, पौषध का अनादर करना या स्मरण नहीं रखना, ये पौषधव्रत के पाँच अतिचार है ॥११७॥

सचित्ते क्षेपणं तेन, पिधानं काललङ्घनम् ।
मत्सरोऽन्यापदेशश्च, तुर्यशिक्षाव्रते स्मृताः ॥११८॥

अर्थ – साधु को देने योग्य वस्तु पर सचित्त वस्तु रख देना, सचित्त से ढक देना, दान देने के समय का उल्लंघन करना, (समय टाल देना) मत्सर रखना, अपनी वस्तु को पराई कहना, चौथे शिक्षाव्रत के ये पाँच अतिचार है ॥११८॥

एवं व्रतस्थितो भक्त्या, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन् ।
दयया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥११९॥

अर्थ – इस तरह बारह व्रतों में स्थिर होकर सात क्षेत्रों में भक्तिपूर्वक तथा अतिदीनजनों में दया पूर्वक अपने धन रूपी बीज बोने वाला महाश्रावक कहलाता है ॥११९॥

यः सद् बाह्यमनित्यं च क्षेत्रेषु न धनं वपेत् ।
कथं वराकश्चारित्रं दुश्चरं स समाचरेत् ? ॥१२०॥

अर्थ – जो पुरुष अपने पास होते हुए भी बाह्य और अनित्य धन को योग्य क्षेत्रों में नहीं लगाता, (बोता), वह बेचारा दुष्कर चारित्र का आराधन कैसे कर सकता है ? ॥१२०॥

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्, परमेष्ठिस्तुतिं पठन् ।
किंधर्मा किंकुलश्चास्मि, किं व्रतोऽस्मीति च स्मरन् ॥१२१॥

अर्थ – ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा का परित्याग करके महाश्रावक परमेष्ठि-पद की स्तुति करता हुआ उठे । उसके बाद यह स्मरण करे कि मेरा धर्म क्या है ? मैंने किस कुल में जन्म लिया है ? और मेरे कौन से व्रत हैं ? ॥१२१॥

शुचिः पुष्पामिष-स्तोत्रैर्देवमभ्यर्च्य वेश्मनि ।
प्रत्याख्यानं यथाशक्ति कृत्वा देवगृहं व्रजेत् ॥१२२॥

अर्थ – उसके बाद स्नानादि से पवित्र होकर अपने गृहमंदिर में भगवान् की पुष्प, नैवेद्य एवं स्तोत्र आदि से पूजा करे, फिर अपनी शक्ति के अनुसार नौकारसी आदि का पच्चक्खान करके बड़े जिनमंदिर में जाये ॥१२२॥

प्रविश्य विधिना तत्र, त्रिः प्रदक्षिणयेज्जिनम् ।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य, स्तवनैरुत्तमैः स्तुयात् ॥१२३॥

अर्थ – जिनंदिर में विधि पूर्वक प्रवेश करके प्रभु को तीन बार प्रदक्षिणा देकर पुष्प आदि से उनकी अर्चना करके उत्तम स्तवनों से स्तुति करे ॥१२३॥

ततो गुरूणामभ्यर्णे, प्रतिपत्तिपुरस्सरम् ।
विदधीत विशुद्धात्मा, प्रत्याख्यानप्रकाशनम् ॥१२४॥

अर्थ – देव-वंदन करने के बाद गुरु या धर्माचार्य के

पास जाकर साढ़े तीन हाथ दूर खड़े होकर विनयपूर्वक वंदन करे, उनका व्याख्यान सुने। बाद में देवसमक्ष किया हुआ प्रत्याख्यान दंभरहित व निर्मलचित्त होकर गुरु-समक्ष प्रगट करे। क्योंकि प्रत्याख्यान की विधि तीन की साक्षी से होती है - १. आत्मसाक्षी, २. देवसाक्षी और ३. गुरुसाक्षी से ॥१२४॥

अभ्युत्थानं तदालोकेऽभियानं च तदागमे।
शिरस्यञ्जलिसंश्लेषः स्वयमासनढौकनम् ॥१२५॥
आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम्।
तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरोः ॥१२६॥

अर्थ - गुरु महाराज को देखते ही आसन छोड़कर आदर पूर्वक खड़े हो जाना, उनके सामने जाना, वे आ गये हो तो मस्तक पर अंजलि करके हाथ जोड़कर 'नमो खमासमणाणं' वचन बोलना, यह कार्य स्वयं करना, दूसरे से नहीं कराना और स्वयं आसन प्रदान करना, गुरु-महाराज के आसन पर बैठ जाने के बाद, स्वयं दूसरे आसन पर बैठना, बाद में भक्ति पूर्वक पच्चीस आवश्यक की विशुद्धि पूर्वक वंदन करना। गुरुदेव को कहीं जाना न हो और किसी कार्य में रुके न हो तो पर्युपासना = सेवा करना, उनके जाने पर कुछ दूर तक अनुगमन करना, इस प्रकार गुरु की प्रतिपत्ति (धर्माचार्य का उपचार-विनय) जानना ॥१२५-१२६॥

ततः प्रतिनिवृत्तः सन्, स्थानं गत्वा यथोचितम्।
सुधीर्धर्माविरोधेन, विदधीतार्थचिन्तनम् ॥१२७॥

अर्थ - मंदिर से वापिस आकर अपने-अपने उचित स्थान पर (अर्थात् राजा हो तो राजसभा में, मंत्री आदि हो तो न्यायालय में, व्यापारी हो तो दूकान में) जाकर जिससे धर्म को आंच न आये, इस प्रकार बुद्धिशाली श्रावक धनोपार्जन का चिन्तन करे ॥१२७॥

ततो माध्याह्निकीं पूजां, कुर्यात् कृत्वा च भोजनम्।
तद्विद्भिः सह शास्त्रार्थ रहस्यानि विचारयेत् ॥१२८॥

अर्थ - तत्पश्चात् दिन की मध्यकालिनी प्रभु-पूजा करके फिर भोजन करे। यह आधे श्लोक का भावार्थ है, मध्याह्न को ही भोजन हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, जब तीव्र भूख लगी हो, उसी समय को भोजनकाल कहा है। यदि मध्याह्नकाल के पहेल भी पच्चक्खाण पारकर देवपूजा करके भोजन करे तो दोष नहीं है। उसकी विधि इस प्रकार है - जिनपूजा, उचित दान, कुटुम्ब परिवार की सारसंभाल लेना, उनके योग्य उचित कर्तव्य का पालन करना, भूल हो तो समझाना अथवा उपदेश देना तथा स्वयं द्वारा किये हुए पच्चक्खाण का स्मरण करना। भोजन करने के बाद यथाशक्ति गंठसी, वेढसी, मुट्ठसी सहित कोई भी पच्चक्खाण कर लेना चाहिए। प्रमाद-त्याग के अभिलाषी आत्म को एक क्षण भी प्रत्याख्यान के बिना नहीं रहना

चाहिए। प्रत्याख्यान करने के बाद शास्त्रों के अर्थ और तात्पर्य पर विचारविमर्श करने हेतु शास्त्रविज्ञों या धर्मगुरुओं का सत्संग करना चाहिए और गुरु-मुख से उस शास्त्र के रहस्यों को सुनने के बाद बार-बार उस पर परिशीलन, पर्याप्त चिन्तन-मनन आदि न किया जाय, तब तक वह पदार्थ भलीभांति हृदयंगम नहीं हो सकता ॥१२८॥

ततश्च सन्ध्यासमये, कृत्वा देवार्चनं पुनः ।
कृतावश्यककर्मा च, कुर्यात् स्वाध्यायमुत्तमम् ॥१२९॥

अर्थ – उसके बाद भोजन करके संध्या-समय फिर देव-पूजा करके प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे, फिर उत्तम स्वाध्याय करे ॥१२९॥

न्याय्ये काले ततो, देव-गुरु-स्मृति-पवित्रितः ।
निद्रामल्पामुपासीत, प्रायेणाब्रह्मवर्जकः ॥१३०॥

अर्थ – उचित समय तक स्वाध्याय आदि करने के बाद देव एवं गुरु के स्मरण से पवित्र बना हुआ एवं प्रायः अब्रह्मचर्य का त्यागी या नियमित जीवन बिताने वाला श्रावक अल्पनिद्रा ले ॥१३०॥

निद्राच्छेदे योषिदङ्गसतत्त्वं परिचिन्तयेत् ।
स्थूलभद्रादिसाधूनां, तन्निवृत्तिं परामृशन् ॥१३१॥

अर्थ – रात को जब नींद खुल जाय, तब स्थूलभद्रादि मुनियों ने जिस प्रकार स्त्रियों के अंग की मलिनता,

जुगुप्सनीयता और निःसारता का विचार किया था, उसी प्रकार अंगनाओं के अंगों के यथार्थ तत्त्व का चिन्तन करे और उनकी तरह स्त्रियों से निवृत्ति का स्मरण करते हुए अपने शरीर के वास्तविक स्वरूप पर विचार करे ॥१३१॥

यकृच्छकृन्मल-श्लेष्म-मज्जाऽस्थिपरिपूरिताः ।
स्नायुस्यूता बहिरम्याः, स्त्रियश्चर्मप्रसेविकाः ॥१३२॥

अर्थ – जैसे जिगर का टुकड़ा, विष्ठा, दांत, नाक, कान व जीभ का मैल, श्लेष्म, मज्जा, वीर्य, रुधिर, हाड़ आदि के टुकड़े भरकर चमड़े के तार से सिली हुई मश बहार से सुन्दर दिखायी देती है, वैसे ही स्त्रियों का शरीर सिर्फ बाहर से रमणीय लगता है, उसके अन्दर तो जिगर, मांस, विष्ठा, मल, श्लेष्म, कफ, मज्जा, चर्बी, खून और हड्डियाँ आदि भरे हैं, केवल ऊपर चमड़ा मढ़ा हुआ है ॥१३२॥

बहिरन्तविपर्यासः, स्त्रीशरीरस्य चेद् भवेत् ।
तस्यैव कामुकः कुर्याद्, गृध्र-गोमायु-गोपनम् ॥१३३॥

अर्थ – यदि स्त्री के शरीर को उलट-पलट दिया जाय अर्थात् भीतरी भाग को बाहर और बाहर के भाग को भीतर कर दिया जाय, तो कामी पुरुष को दिन-रात गिद्धों, सियारों आदि से उसकी रक्षा के लिए पहरा बिठाना पड़े। खाने के पदार्थ मांस आदि देखकर दिन में गिद्ध और रात को सियार खाने के लिए आते हैं। कामुक आदमी उन्हें हटाते-हटाते ही

हैरान हो जायेगा। उस घिनौने शरीर के साथ संभोग करने का अवसर नहीं मिलेगा ॥१३३॥

स्त्री शस्त्रेणापि चेत्कामो, जगदेतज्जिगीषति ।
तुच्छपिच्छमयं शस्त्रं, किं नादत्ते स मूढधीः ? ॥१३४॥

अर्थ – यदि मूढ़मति कामदेव स्त्री-शरीर रूपी गन्दे शस्त्र से सारे जगत को जीतना चाहता है तो फिर वह पिच्छ रूप तुच्छ शस्त्र को क्यों नहीं ग्रहण करता ? ॥१३४॥

सङ्कल्पयोनिनाऽनेन, हहा विश्वं विडम्बितम् ।
तदुत्खनामि सङ्कल्पं, मूलमस्येति चिन्तयेत् ॥१३५॥

ओहो ! संकल्प से उत्पन्न होने वाले इस कामदेव ने तो सारे संसार को विडंबना में डाल रखा है। अतः मैं विषय-विकार की जड़ इस संकल्प विकल्प को ही उखाड़ फेंकूँगा। इस प्रकार का चिन्तन करे ॥१३५॥

यो यः स्याद् बाधको दोषस्तस्य तस्य प्रतिक्रियाम् ।
चिन्तयेद् दोषमुक्तेषु, प्रमोदं यतिषु व्रजन् ॥१३६॥

अर्थ – दोष से मुक्त मुनियों पर प्रमोदभाव रखकर अपने में जो-जो बाधक दोष दिखायी देता हो, उससे मुक्त होने के प्रतिकार (उपाय) का विचार करे ॥१३६॥

दुस्थां भवस्थितिं स्थेम्ना, सर्वजीवेषु चिन्तयन् ।
निसर्गसुखसर्गं तेष्वपवर्गं विमार्गयेत् ॥१३७॥

अर्थ – स्थिर होकर, वह चिन्तन करे कि संसार-परिभ्रमण

सभी जीवों के लिए अटपटा व दुःखमय है। अतः इस प्रकार का युक्ति पूर्वक विचार करे कि संसार के सभी जीव कैसे शाश्वत व स्वाभाविक मोक्षसुख प्राप्त करें ? ॥१३७॥

संसर्गेऽप्युपसर्गाणां दृढव्रतपरायणाः ।
धन्यास्ते कामदेवाद्याः, श्लाघ्यास्तीर्थकृतामपि ॥१३८॥

अर्थ – देव, मनुष्य और तिर्यंच आदि के द्वारा कृत उपसर्गों का संपर्क हो जाने पर भी अपने व्रत के रक्षण और पालन में दृढ़ श्रीकामदेव आदि श्रावकों को धन्य है, जिनकी प्रशंसा तीर्थंकर भगवान् महावीर ने भी की थी, ऐसा चिन्तन करे ॥१३८॥

जिनो देवः कृपा धर्मो, गुरवो यत्र साधवः ।
श्रावकत्वाय कस्तस्मै, न श्लाघेताविमूढधीः ? ॥१३९॥

अर्थ – जिस श्रावकधर्म में रागादि शत्रुओं के आदर्श विजेता देव हैं, पंचमहाव्रत में तत्पर धर्मोपदेशक संयमी साधु गुरु है, दुःखियों के दुःखों को दूर करने की अभिलाषा रूप दयामय धर्म है, फिर कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो इस श्रावकत्व (श्रावकधर्म) की सराहना नहीं करेगा ? अवश्य ही तारीफ करेगा ॥१३९॥

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भुवं चक्रवर्त्यपि ।
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासितः ॥१४०॥

अर्थ – ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप जैनधर्म से रहित (वंचित) होकर मैं चक्रवर्ती बनना भी नहीं चाहता, क्योंकि

धर्म के बिना वह पद नरक में ले जाता है। किन्तु जैनधर्म से सुसंस्कृत परिवार में दरिद्र या दास होना मुझे स्वीकार है, क्योंकि वहाँ धर्मप्राप्ति सुलभ है ॥१४०॥

त्यक्तसङ्गो जीर्णवासा, मलक्लिन्नकलेवरः ।
भजन् माधुकरीं वृत्तिं, मुनिचर्यां कदा श्रये ? ॥१४१॥

अर्थ – मेरे लिये कब वह मंगलमय शुभ दिन आयेगा, जब मैं सभी परपदार्थों के प्रति आसक्ति का त्यागी, जीर्णशीर्ण वस्त्रधारी होकर मलिन-शरीर की परवाह न करते हुए माधुकरी (भिक्षावृत्ति) का आश्रय लेकर मुनिचर्या को ग्रहण करूंगा ? ॥१४१॥

त्यजन् दुःशीलसंसर्गं, गुरुपादरजः स्पृशन् ।
कदाऽहं योगमभ्यस्य, प्रभवेयं भवच्छिदे ॥१४२॥

अर्थ – व्यभिचारियों, भांडों, भवैयों, वेश्याओं आदि लौकिक दुःशीलचारियों तथा पासत्थ, ओसन्न, कुशील, संसक्त, यथाच्छन्दक (स्वच्छंदाचारी), इन लोकोत्तर दुःशीलाचारियों की संगति करना दुःशीलसंसर्ग कहलाता है। उनका त्यागकर गुरुमहाराज के चरणरज का स्पर्श करता हुआ ज्ञानदर्शनचारित्र रूपी तीनों योगों का बार-बार अभ्यास करके भव = जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने में कब समर्थ बनूँगा ? ॥१४२॥

महानिशायां प्रकृते, कायोत्सर्गे पुराद् बहिः ।
स्तम्भवद् स्कन्धकर्षणं, वृषाः कुर्युःकदा मयि ? ॥१४३॥

अर्थ – कब मैं महाघोर रात्रि के समय नगर के बाहर प्रकृति के रम्यप्रदेश में कायोत्सर्ग में लीन बनूंगा और कब बैल मुझे खम्भा समझकर अपना कंधा घिसेंगे ? ॥१४३॥

वने पद्मासनासीनं क्रोडस्थित-मृगार्भकम् ।
कदाऽऽघ्रास्यन्ति वक्त्रे मां, जरन्तो मृगयूथपाः ॥१४४॥

अर्थ – वन में मैं पद्मासन लगाकर बैठा होऊं, उस समय हिरन के बच्चे विश्वास पूर्वक मेरी गोद में आकर बैठ जाये और क्रीड़ा करे। इस प्रकार मेरे शरीर की परवाह किये बिना मृगों की टोली के बूढ़े मुखिया कब विश्वास-पूर्वक मेरे मुंह को सूंघेंगे ? ॥१४४॥

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि, निर्विशेषमतिः कदा ? ॥१४५॥

अर्थ – कब मैं शत्रु और मित्र पर तृण और स्त्री-समूह पर, स्वर्ण और पाषाण पर, मणि और मिट्टी पर तथा मोक्ष और संसार पर समबुद्धि रख सकूंगा ? ॥१४५॥

अधिरोढुं गुणश्रेणिं, निश्रेणिं मुक्तिवेश्मनः ।
परानन्दलताकन्दान्, कुर्यादिति मनोरथान् ॥१४६॥

अर्थ – मोक्ष रूपी महल में प्रवेश के हेतु गुण (गुणस्थान) – श्रेणी रूपी निःश्रेणी पर बढ़ने के लिए उत्कृष्ट आनंद रूपी लताकंद के समान उपर्युक्त मनोरथ करे ॥१४६॥

इत्यहोरात्रिकीं चर्यामप्रमत्तः समाचरन् ।
यथावदुक्तवृत्तस्थो, गृहस्थोऽपि विशुध्यति ॥१४७॥

अर्थ - इस प्रकार पूरे एक दिन और रात की श्रावकचर्या का अप्रमत्तभाव से पालन करता हुआ भी जो श्रावक, श्रावक की शास्त्रोक्त ग्यारह प्रतिमा रूप सद्व्रत की सविधि आराधना करता है, वह गृहस्थ भी पापों का क्षय करके विशुद्ध हो जाता है ॥१४७॥

सोऽथावश्यकयोगानां, भङ्गे मृत्योरथागमे ।
कृत्वा संलेखनामादौ, प्रतिपद्य च संयमम् ॥१४८॥

अर्थ - श्रावक जब यह देखे कि आवश्यक संयम-प्रवृत्तियों (धार्मिक क्रियाओं) के करने में शरीर अब अशक्त व असमर्थ हो गया है अथवा मृत्यु का समय सन्निकट आ गया है, तो सर्वप्रथम संयम अंगीकार करके संलेखना करे ॥१४८॥

जन्म-दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष-स्थानेषु श्रीमदर्हताम् ।
तदभावे गृहेऽरण्ये, स्थण्डिले जन्तुवर्जिते ॥१४९॥

अर्थ - संलेखना करने के लिए अरिहंत-भगवंतों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान अथवा निर्वाण-कल्याणक के पवित्र तीर्थस्थलों पर पहुंच जाये। यदि कल्याणकभूमि निकट में न हो तो, किसी एकान्तगृह (मकान), घर, वन या जीवजन्तु से रहित एकान्त, शान्त, भूमि में संलेखना करे ॥१४९॥

त्यक्त्वा चतुर्विधाहारं, नमस्कार-परायणः ।
आराधनां विधायोच्चैश्चतुशरणमाश्रितः ॥१५०॥

अर्थ - सर्वं प्रथम अशन-पान-खादिम-स्वादिम रूप

चार प्रकार के आहार का त्यागकर परमेष्ठि-नमस्कार-महामन्त्र का स्मरण करने में तत्पर हो जाय । तदनन्तर निरतिचार रूप से ज्ञानादि की आराधना करे और अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म रूपी चार शरणों का आश्रय स्वीकार करे। अथवा अपनी आत्मा को उक्त चारों श्रद्धेय तत्त्वों को समर्पित करते हुए उच्चस्वर से बोले-''**अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि**'' अर्थात् मैं अरिहंत भगवान् का शरण स्वीकार करता हूं, सिद्ध परमात्मा का शरण स्वीकार करता हूं, साधु भगवन्तों का शरण स्वीकार करता हूँ और वीतराग केवलज्ञानी तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म का शरण स्वीकार करता हूँ ॥१५०॥

इहलोके परलोके, जीविते मरणे तथा ।
त्यक्त्वाऽऽशंसां निदानं च, समाधिसुधयोक्षितः ॥१५१॥

अर्थ - १. इहलौकिक आकांक्षा, २. पारलौकिक आकांक्षा, ३. जीविताकांक्षा, ४. मरणाकांक्षा और ५. कामभोगाकांक्षा से प्रेरित होकर निदान करना, संलेखना के इन ५ अतिचारों का त्यागकर समाधिसुधासिक्ति हो जाये ॥१५१॥

परीषहोपसर्गेभ्यो, निर्भीको जिनभक्ति भाक् ।
प्रतिपद्येत मरणमानन्दः श्रावको यथा ॥१५२॥

अर्थ - तथा परिषह और उपसर्ग भी आ जाएँ, फिर

भी भयभीत न हो तथा जिनेश्वर भगवान् की भक्ति में तन्मय रहे तथा स्वयं आनंद श्रावक के समान समाधिमरण को प्राप्त करे ॥१५२॥

प्राप्तः स कल्पेष्विन्द्रत्वमन्यद्वा स्थानमुत्तमम् ।
मोदतेऽनुत्तरप्राज्यपुण्यसम्भारभाक् ततः ॥१५३॥
च्युत्वोत्पद्य मनुष्येषु, भुक्त्वा भोगान् सुदुर्लभान् ।
विरक्तो, मुक्तिमाप्नोति, शुद्धात्माऽन्तर्भवाष्टकम् ॥१५४॥

अर्थ – इस प्रकार शास्त्रानुसार श्रावकधर्मपालक गृहस्थ सौधर्म आदि देवलोक में इन्द्रपद या अन्य उत्तम स्थान प्राप्त कर लेता है । अपने उत्कृष्ट पुण्यपुंज के कारण वह सुखी रहता है । वहाँ से च्यवकर वह मनुष्य योनियों में उत्पन्न होकर विविध दुर्लभ सुखों का उपभोग करता है । फिर उनसे विरक्त होकर कर्मक्षय करके शुद्धात्मा होकर आठ भवों के अन्दर-अन्दर मुक्ति पा लेता है ॥१५३-१५४॥

इति सङ्क्षेप्तः सम्यग् रत्नत्रयमुदीरितम् ।
सर्वोऽपि यदनासाद्य, नासादयति निर्वृतिम् ॥१५५॥

अर्थ – इस प्रकार तीन प्रकाशों द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक रत्नत्रय रूप योग का स्वरूप कहा है । वह किस प्रकार कहा है ? सम्यग् यानी जिनागमों के साथ विरोध न आये इस तरह संक्षेप में कहा है । छद्मस्थ के लिए विस्तार से कहना दुःशक्य है, इसीलिए संक्षेप में वर्णन

किया गया है । रत्नत्रय के बिना अन्य किसी कारण से निर्वाणप्राप्ति हो सकती है या नहीं ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं इन सभी (तीनों) में से एक भी न्यून हो तो मुक्ति नही हो सकती । कहा है कि काकतालीय न्याय से भी त्रिरत्नप्राप्ति किये बिना कोई मुक्ति नहीं पा सकता । जो जीवादि तत्त्वों को नहीं जानता, जीवादि पदार्थों पर श्रद्धा नही करता, नये कर्म बांधता है और पुराने कर्मो का धर्म-शुक्ल-ध्यान के बल से क्षय नहीं करता, वह संसार के बंधन से छूटकर मुक्ति नहीं पा सकता । इसीलिए सर्वोऽपि कहकर यह पुष्टि कर दी है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की संयुक्त आराधना से ही आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥१५५॥

• • •

४. चतुर्थ प्रकाश

आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यतेः ।
यत्तदात्मक एवैष, शरीरमधितिष्ठति ॥१॥

अर्थ - अथवा यति-(साधु) का आत्मा ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है, क्योंकि दर्शनादिरत्नत्रयात्मक आत्मा शरीर में रहता है ॥१॥

आत्मानमात्मना वेत्ति, मोहत्यागाद्य आत्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं, तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥२॥

अर्थ - आत्मा को आत्मा स्वयं जानता है, ऐसा ज्ञान मूढ़-व्यक्ति को नहीं होता, अतः कहा है कि मोह का त्याग करने से आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है, वही उसका चारित्र है, वही ज्ञान है और वही श्रद्धा रूपी दर्शन है ॥२॥

आत्माऽज्ञानभवं दुःखमात्मज्ञानेन हन्यते ।
तपसाऽप्यात्मविज्ञानहीनैश्छेत्तुं न शक्यते ॥३॥

अर्थ - आत्मा के अज्ञान के कारण दुःख होता है और वह दुःख आत्मज्ञान से ही नष्ट किया जाता है । जो आत्मज्ञान से रहित है, वे मनुष्य तपस्या आदि से भी दुःख का छेदन नहीं कर सकते ॥३॥

अयमात्मैव चिद्रूपः शरीरी कर्मयोगतः ।
ध्यानाग्निदग्धकर्मा, तु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः ॥४॥

अर्थ - समस्त प्रमाणों से सिद्ध आत्मा वास्तव में चेतन-ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है । शरीरी तो वह कर्म के संयोग से बनता है, जब यह आत्मा ही शुक्लध्यान रूपी अग्नि से समस्त कर्म रूपी इन्धन को भस्म कर शरीर रहित हो जाती है, तब मुक्त स्वरूप सिद्धात्मा निरंजन निर्मल बन जाती है ॥४॥

अयमात्मैव संसारः कषायेन्द्रियनिर्जितः ।
तमेव तद्विजेतारं, मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥५॥

अर्थ - कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत यह आत्मा ही नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवगति-परिभ्रमण रूप संसार है और जब यही आत्मा कषायों और इन्द्रियों को जीत लेती है, तो उसी को बुद्धिशाली पुरुषों ने मोक्ष कहा है ॥५॥

स्युः कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाः शरीरिणाम् ।
चतुर्विधास्ते प्रत्येकं, भेदैः सञ्ज्वलनादिभिः ॥६॥

अर्थ - क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, जो शरीरधारी आत्मा में होते हैं । संज्वलन आदि के भेद से क्रोधादि प्रत्येक कषाय के चार-चार भेद हैं ॥६॥

पक्षं सञ्ज्वलनः प्रत्याख्यानो मासचतुष्टयम् ।
अप्रत्याख्यानको वर्षं, जन्मानन्तानुबन्धकः ॥७॥

अर्थ - संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ की

कालमर्यादा पंद्रह दिन तक की रहती है। संज्वलनकषाय घास की अग्नि के समान अल्पसमय तक जलाते हैं। अथवा परिषह आदि के आने से जलने का स्वभाव हो जाता है। प्रत्याख्यान – जैसे भीमसेन को भीम कहा जाता है, वैसे ही यहाँ प्रत्याख्यानावरण शब्द को संक्षेप में 'प्रत्याख्यान' कहा है। प्रत्याख्यानावरण-कषाय सर्वविरति प्रत्याख्यान (नियम) को रोकने वाला है, यह चार महीने तक रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय में 'नञ्' समास अल्पार्थक है, इसलिए अर्थ हुआ – जो देशविरति प्रत्याख्यान को रोकता है। इसके चारों कषाय एक वर्ष तक रहते हैं। अनंतानुबन्धी कर्म बांधने वाला कषाय मिथ्यात्व-सहित होने से अनन्तभवों तक उसकी परम्परा चलती है। अन्तानुबन्धी क्रोधादि-कषाय जन्मपर्यन्त तक रहता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि आदि के क्षणमात्र की स्थिति होने पर भी वह अनन्तानुबन्धी कषाय है, अन्यथा नरक-योग्य कर्मों के उपार्जन का अवसर नहीं आता ॥७॥

वीतराग-यति-श्राद्ध-सम्यग्दृष्टित्वघातकाः ।
ते देवत्व-मनुष्यत्व-तिर्यक्त्व-नरकप्रदाः ॥८॥

अर्थ – वे संज्वलनादि चार कषाय क्रमशः वीतरागत्व, साधुत्व, श्रावकत्व और सम्यक्त्व का घात करते हैं तथा वे क्रमशः देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और नरकत्व प्राप्त कराते हैं ॥८॥

तत्रोपतापकः क्रोधः क्रोधो वैरस्य कारणम् ।
दुर्गतेर्वर्तनी क्रोधः क्रोधः शमसुखार्गला ॥९॥

अर्थ – इन चारों में प्रथम कषाय क्रोध शरीर और मन दोनों को सन्ताप देता है, क्रोध वैर का कारण है, क्रोध दुर्गति की पगडंडी है और क्रोध प्रशमसुख को रोकने के लिए अर्गला के समान है ॥९॥

उत्पद्यमानः प्रथमं, दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोधःकृशानुवत् पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥१०॥

अर्थ – किसी प्रकार का निमित्त पाकर क्रोध उत्पन्न होते ही सर्व प्रथम आग की तरह अपने आश्रय स्थान (जिसमें वह उत्पन्न होता है, उसी) को ही जलाता है। बाद में अग्नि की तरह दूसरे को जलाए, चाहे न भी जलाए। यदि सामने वाला व्यक्ति क्षमाशील होगा तो गीले वृक्ष के समान उसे जला नहीं सकेगा ॥१०॥

क्रोधवह्नेस्तदह्नाय, शमनाय शुभात्मभिः ।
श्रयणीया क्षमैकैव, संयमारामसारणिः ॥११॥

अर्थ – उत्तम आत्मा को क्रोध रूपी अग्नि को तत्काल शान्त करने के लिए एकमात्र क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए। क्षमा ही क्रोधाग्नि को शान्त कर सकती है। क्षमा संयम रूपी उद्यान को हराभरा बनाने के लिए क्यारी है ॥११॥

विनय-श्रुत-शीलानां, त्रिवर्गस्य च घातकः ।
विवेक-लोचनं लुम्पन्, मानोऽन्धङ्करणो नृणाम् ॥१२॥

अर्थ – मान विनय का, श्रुत का और शील-सदाचार का घातक है तथा धर्म, अर्थ और काम तीनों का घातक है। मान मनुष्यों के विवेक रूपी चक्षु को नष्ट करके अन्धा बना देता है ॥१२॥

जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-बल-रूप-तपः श्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ॥१३॥

अर्थ – जो व्यक्ति जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और ज्ञान, इन मद के आठ स्थानों (कारणों) में जिस किसी का मद करता है, वह जन्मांतर में उसी की हीनता प्राप्त करता है ॥१३॥

उत्सर्पयन् दोषशाखा, गुणमूलान्यधो नयन् ।
उन्मूलनीयो मानद्रुस्तन्मार्दव-सरित्प्लवैः ॥१४॥

अर्थ – दोष रूपी शाखाओं को विस्तृत करने वाले और गुण रूपी मूल को नीचे ले जाने वाले मान रूपी वृक्ष को मार्दव-नम्रता रूपी नदी के वेग से जड़ सहित उखाड़ फैंकना चाहिए ॥१४॥

असूनृतस्य जननी, परशुः शीलशाखिनः ।
जन्मभूमिरविद्यानां, माया दुर्गतिकारणम् ॥१५॥

अर्थ – माया असत्य की जननी है, वह शील अर्थात् सुन्दर स्वभाव रूप वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी है, अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व एवं अज्ञान की जन्मभूमि है और दुर्गति का कारण है ॥१५॥

कौटिल्यपटवः पापाः, मायया बकवृत्तयः ।
भुवनं वञ्चयमाना, वञ्चयन्ते स्वमेव हि ॥१६॥

अर्थ – कुटिलता करने में कुशल पापी बगुले के समान दम्भी वृत्ति वाले माया से जगत् को ठगते हुए वास्तव में अपने आप को ही ठगते हैं ॥१६॥

तदार्जवमहौषध्या, जगदानन्दहेतुना ।
जयेज्जगद्द्रोहकरीं, मायां विषधरीमिव ॥१७॥

अर्थ – इसलिए जगत् का अपकार-द्रोह करने वाली माया रूपी सर्पिणी को जगत् के जीवों को आनन्द देने वाली ऋजुता = सरलता रूपी महौषधि से जीतना चाहिए ॥१७॥

आकारः सर्वदोषाणां, गुणग्रसनराक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः ॥१८॥

अर्थ – जैसे लोहा आदि सब धातुओं का उत्पत्तिस्थान खान है, वैसे ही प्राणातिपात आदि समस्त दोषों की खान लोभ है। यह ज्ञानादि गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है, आफत (दुःख) रूपी वेलों का कन्द (मूल) है। वस्तुतः लोभ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी समस्त अर्थो-पुरुषार्थो का बाधक है ॥१८॥

धनहीनः शतमेकं, सहस्त्रं शतवानपि ।
सहस्त्राधिपतिर्लक्षं, कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च ॥१९॥
कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं, नरेन्द्रश्चक्रवर्त्तिताम् ।
चक्रवर्ती च देवत्वं, देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति ॥२०॥

इन्द्रत्वेऽपि हि सम्प्राप्ते, यदिच्छा न निवर्तते ।
मूले लघीयांस्तल्लोभः शराव इव वर्धते ॥२१॥

अर्थ - निर्धन मनुष्य सौ रुपये की अभिलाषा करता है, सौ पाने वाला हजार की इच्छा करता है और हजार रुपयों का स्वामी लाख रुपये पाना चाहता है, लक्षाधिपति करोड़ की लालसा करता है और कोटीपति राजा बनने का स्वप्न देखता है, राजा को चक्रवर्ती बनने की धून सवार होती है और चक्रवर्ती को देव बनने की लालसा जगती है। देव भी इन्द्रपद प्राप्त करना चाहता है। मगर इन्द्रपद प्राप्त होने पर भी तो इच्छा का अन्त नहीं आता है। अतः प्रारम्भ में थोड़ा-सा (छोटा-सा) लोभ होता है, वही बाद में शैतान की तरह बढता जाता है ॥१९-२१॥

लोभसागरमुद्वेलमतिवेलं महामतिः ।
सन्तोषसेतुबन्धेन, प्रसरन्तं निवारयेत् ॥२२॥

अर्थ - लोभ रूपी समुद्र को पार करना = लांघना अत्यन्त कठिन है। उसके बढ़ते हुए ज्वार को रोकना दुष्कर है। अतः महाबुद्धिमान पुरुष को सन्तोष रुपी पुल बान्धकर उसे आगे बढ़ने से रोक लेना चाहिए ॥२२॥

क्षान्त्या क्रोधो मृदुत्वेन, मानो मायाऽऽर्जवेन च ।
लोभश्चानीहया जेयाः, कषायाः इति सङ्ग्रहः ॥२३॥

अर्थ - क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से और लोभ को निःस्पृहता=सन्तोष से जीते।

इस प्रकार चारों कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहिए, यह समुच्चय रूप में निचोड़ है। यद्यपि कषायजय और इन्द्रियजय दोनों को समान रूप से मोक्ष का कारण बताया है, फिर भी एक अपेक्षा से कषायजय मुख्य है और इन्द्रियजय उसका कारण है ॥२३॥

विनेन्द्रियजयं नैव, कषायान् जेतुमीश्वरः ।
हन्यते हैमनं जाड्यं, न विना ज्वलितानलम् ॥२४॥

अर्थ - इन्द्रियों को जीते बिना कोई भी साधक कषायों को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। हेमन्तऋतु का भयंकर शीत प्रज्वलित अग्नि के बिना मिट नहीं सकता ॥२४॥

अदान्तैरिन्द्रियहयैश्चलैरपथगामिभिः ।
आकृष्य नरकारण्ये, जन्तुः सपदि नीयते ॥२५॥

अर्थ - इन्द्रिय रूपी घोड़ों को काबू में न करने पर वे चंचल और उन्मार्गगामी बनकर प्राणी को जबरन खींचकर शीघ्र नरक रूपी अरण्य में ले जाते हैं ॥२५॥

इन्द्रियैर्विजितो जन्तुः कषायैरभिभूयते ।
वीरैः कृष्टेष्टिकः पूर्वं, वप्रः कैः कैर्न खण्डयते ? ॥२६॥

अर्थ - जो जीव इन्द्रियों से पराजित हो जाता है, उस पर कषाय हावी हो जाता है। वीर लोग जब किले की एक ईट खींचकर खिसका देते हैं तो उसके बाद कौन उसे खण्डित नहीं कर देते ? फिर तो कमजोर आदमी भी उसे नष्टभ्रष्ट कर देते हैं ॥२६॥

कुलघाताय पाताय, बन्धाय च वधाय च ।
अनिर्जितानि जायन्ते, करणानि शरीरिणाम् ॥२७॥

अर्थ - अविजित (काबू में नहीं की हुई) इन्द्रियाँ शरीरधारियों के कुल को नष्ट कराने वाली, पतन, बन्धन और वध कराने वाली होती हैं ॥२७॥

वशास्पर्श सुखास्वादप्रसारितकरः करी ।
आलानबन्धनक्लेशमासादयति तत्क्षणात् ॥२८॥

अर्थ - हथिनी के स्पर्श-सुख का स्वाद लेने के लिए सूंड फैलाता हुआ हाथी क्षणभर में खम्भे के बन्धन में पड़कर क्लेश पाता है ॥२८॥

पयस्यगाधे विचरन् गिलन् गलगतामिषम् ।
मैनिकस्य करे दीनो, मीनः पतति निश्चितम् ॥२९॥

अगाध जल में रहने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के कांटे पर मांस का टुकड़ा खाने के लिए ज्यों ही आती है, त्यों ही निःसंदेह वह बेचारी मच्छीमार के हाथ में आ जाती है ॥२९॥

निपतन्मत्तमातङ्गकपोले गन्धलोलुपः ।
कर्णतालतलाघाताद्, मृत्युमाप्नोति षट्पदः ॥३०॥

अर्थ - मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल पर गन्ध में आसक्त होकर भौंरा बैठता है, परन्तु उसके कान की फटकार से मृत्यु का शिकार हो जाता है ॥३०॥

कनकच्छेदसङ्काशशिखालोकविमोहितः ।
रभसेन पतन् दीपे, शलभो लभते मृतिम् ॥३१॥

अर्थ - सोने के तेज के समान चमकती हुई दीपक की लौ के प्रकाश को देखकर पतंगा मुग्ध हो जाता है और दीपक पर टूट पड़ता है, जिससे वह मौत के मुंह में चला जाता है ॥३१॥

हरिणो हारिणिं गीतिमाकर्णयितुमुद्धुरः ।
आकर्णाकृष्टचापस्य याति व्याधस्य वेध्यताम् ॥३२॥

अर्थ - मनोहर गीत सुनने में तन्मय बना हुआ हिरन कान तक खींचे हुए शिकारी के बाण से बिंध जाता है । मृत्यु को प्राप्त करता है ॥३२॥

एवं विषय एकैकः, पञ्चत्वाय निषेवितः ।
कथं हि युगपत् पञ्च, पञ्चत्वाय भवन्ति न ? ॥३३॥

अर्थ - इस प्रकार स्पर्शन, रसना नासिका, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय का विषय भी सेवन करने पर मृत्यु का कारण हो जाता है, तो एक साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने से मृत्यु का कारण क्यों नहीं होगा ? अवश्यमेव होगा ॥३३॥

तदिन्द्रियजयं कुर्याद्, मनः शुद्ध्या महामतिः ।
यां विना यम-नियमैः, कायक्लेशो वृथा नृणाम् ॥३४॥

अर्थ - इसलिए महाबुद्धिमान साधक मन की शुद्धि द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। क्योंकि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त

किये बिना यम-नियमों का पालन करना मनुष्यों के लिए व्यर्थ ही कायक्लेश (शरीर को कष्ट देना) है ॥३४॥

मनः क्षपाचरो भ्राम्यन्नपशङ्कं निरङ्कुशः ।
प्रपातयति संसाराऽऽवर्त्तगर्ते जगत् त्रयीम् ॥३५॥

अर्थ - निरंकुश मन राक्षस की तरह निःशंक होकर भाग-दौड़ करता है और तीनों जगत् के जीवों को संसार रूपी भँवरजाल के गड्ढे में गिरा देता है ॥३५॥

तप्यमानांस्तपो मुक्तौ, गन्तुकामान् शरीरिणः ।
वात्येव तरलं चेतः क्षिपन्त्यन्यत्र कुत्रचित् ॥३६॥

अर्थ - मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुकों और कठोर तपश्चर्या करने वाले शरीरधारियों को भी अस्थिर (चंचल) मन यानी भावमन आंधी की तरह कहीं का कहीं फेंक देता है ॥३६॥

अनिरुद्धमनस्कः सन्, योगश्रद्धां दधाति यः ।
पद्भ्यां जिगमिषुर्ग्रामं स पङ्गुरिव हस्यते ॥३७॥

अर्थ - मन का निरोध किये बिना ही जो मनुष्य योग प्राप्त होने का विश्वास कर लेता है, उसकी वह योगश्रद्धा लंगड़े आदमी द्वारा दूसरे गाँव जाने की इच्छा की तरह विवेकी लोगों में हंसी का पात्र बनती है ॥३७॥

मनोरोधे निरुध्यन्ते, कर्माण्यपि समन्ततः ।
अनिरुद्धमनस्कस्य, प्रसरन्ति हि तान्यपि ॥३८॥

अर्थ - विषयों से मन को रोक लेने से चारों ओर से कर्मों के आगमन (आस्रव) रुक जाते हैं । जो मनुष्य मन

का निरोध नहीं करता, उसके कर्म चारों ओर से बढ़ते जाते हैं ॥३८॥

मनः कपिरयं विश्वपरिभ्रमणलम्पटः ।
नियन्त्रणीयो यत्नेन, मुक्तिमिच्छुभिरात्मनः ॥३९॥

अर्थ - मन बन्दर है, ऐसा बन्दर, जो सारे विश्व में भटकने का शौखीन है । अतः मोक्षाभिलाषी पुरुष को अपने मन-मर्कट को प्रयत्नपूर्वक वश में करना चाहिए ॥३९॥

दीपिका खल्वनिर्वाणा, निर्वाणपथदर्शिनी ।
एकैव मनसः शुद्धिः, समाम्नाता मनीषिभिः ॥४०॥

अर्थ - पूर्वाचार्यों ने माना है कि-यम-नियम आदि के बिना अकेली मनःशुद्धि भी ऐसी दीपिका है, जो कभी बुझती नहीं और सदा निर्वाणपथ दिखाने वाली है ॥४०॥

सत्यां हि मनसः शुद्धौ, सन्त्यसन्तोऽपि यद्गुणाः ।
सन्तोऽप्यसत्यां नो सन्ति, सैव कार्या बुधैस्ततः ॥४१॥

अर्थ - यदि मन की शुद्धि हो और दूसरे गुण न हों, तो भी उनके फल का सद्भाव होने से क्षमा आदि गुण रहते ही हैं, इसके विपरीत, यदि मन की शुद्धि न हो तो दूसरे गुण होने पर भी क्षमा आदि गुण नहीं है, क्योंकि उसके फल का अभाव है । इस कारण विवेकी पुरुषों को अवश्य ही फलदायिनी मनःशुद्धि करनी चाहिए ॥४१॥

मनः शुद्धिमबिभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये ।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥४२॥

अर्थ – जो मनुष्य मनःशुद्धि किये बिना मुक्ति के लिए तपस्या का परिश्रम करते हैं, वे नौका को छोड़कर भुजाओं से महासागर को पार करना चाहते हैं ॥४२॥

तपस्विनो मनःशुद्धि, विनाभूतस्य सर्वथा ।
ध्यानं खलु मुधा, चक्षुर्विकलस्येव दर्पणः ॥४३॥

अर्थ – अन्धे के लिए जैसे दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मनःशुद्धि के बिना कोरे तपस्वी का ध्यान करना सर्वथा निरर्थक है ॥४३॥

तदवश्यं मनःशुद्धिः कर्तव्या सिद्धिमिच्छता ।
तपःश्रुत-यमप्रायैः किमन्यैः कायदण्डनैः ? ॥४४॥

अर्थ – अतः सिद्धि (मुक्ति) चाहने वाले साधक को मन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। अनशन रूप तप, श्रुत (शास्त्र) का स्वाध्याय, महाव्रत रूप यम और भी दूसरे नियम रूप अनुष्ठान करने से सिवाय कायक्लेश (शरीर को दण्ड देने) से और क्या लाभ मिलेगा ? ॥४४॥

मनःशुद्ध्यै च कर्तव्यो, राग-द्वेष-विनिर्जयः ।
कालुष्यं येन हित्वाऽऽत्मा स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते ॥४५॥

अर्थ – आत्म-स्वरूप भावमन की शुद्धि के लिए प्रीति-अप्रीति स्वरूप राग-द्वेष का निरोध करना चाहिए। अगर राग-द्वेष उदय में आ जाएँ तो उन्हें निष्फल कर देने चाहिए। ऐसा करने से आत्मा मलिनता (कालुष्य) का त्याग करके अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है ॥४५॥

आत्मयत्तमपि स्वान्तं, कुर्वतामपि योगिनाम् ।
रागादिभिः समाक्रम्य, परायत्तं विधीयते ॥४६॥

अर्थ – योगियों के समान अपने मन को वशीभूत करने का प्रयत्न करते-करते बीच में ही राग-द्वेष-मोह आदि विकार हमला करके क्षणभर में मूढ़ और द्वेषी बनाकर रागादि के अधीन कर देते हैं ॥४६॥

रक्ष्यमाणमपि स्वान्तं, समादाय मनाग् मिषम् ।
पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः ॥४७॥

अर्थ – यम-नियम आदि से भावमन की विकारों से रक्षा करते हुए भी योगियों के मन को रागादि पिशाच कोई न कोई प्रमाद रूपी बहाना ढूंढकर बार-बार छलते रहते है। जैसे मन्त्रतन्त्रादि द्वारा पिशाचों से रक्षा करने पर भी मौका पाकर छल से वे साधक को पराधीन कर देते हैं, वैसे ही रागादि पिशाच योगियों के मन को छलते रहते हैं ॥४७॥

रागादितिमिरध्वस्तज्ञानेन मनसा जनः ।
अन्धेनान्ध इवाकृष्टः, पात्यते नरकावटे ॥४८॥

अर्थ – रागादि रूपी अन्धकार से जिसके सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाते हैं, उस योगी का मन उसी तरह खींचकर नरक के कुएँ में गिरा देता है, जिस तरह एक अन्धा दूसरे अन्धे को खींचकर कुँए में गिरा देता है ॥४८॥

अस्ततन्द्रैरतः पुम्भिर्निर्वाणपदकाङ्क्षिभिः ।
विधातव्यः समत्वेन, रागद्वेषद्विषज्जयः ॥४९॥

अर्थ – अतः निर्वाणपद पाने के अभिलाषी योगी पुरुषों को तन्द्रा (प्रमाद) छोड़कर सावधानी के साथ समत्त्व के द्वारा रागद्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए ॥४९॥

अमन्दानन्दजनने, साम्यवारिणि मज्जताम् ।
जायते सहसा पुंसां, रागद्वेषमलक्षयः ॥५०॥

अर्थ – जैसे जल में स्नान करने से मैल दूर हो जाता है, उसी तरह अतीव आनन्दजनक समभाव रूपी जल में स्नान करने वाले पुरुषों का भी रागद्वेष रूपी मैल सहसा दूर हो जाता है ।

प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ॥५१॥

अर्थ – करोड़ों जन्मों तक तीव्र तपस्या करके जिन ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को मनुष्य नष्ट नहीं कर सकता, उन्हीं कर्मों को समता का आश्रय लेकर मनुष्य आधे क्षण में नष्ट कर सकता है ॥५१॥

कर्म जीवं च संश्लिष्टं परिज्ञातात्मनिश्चयः ।
विभिन्नीकुरुते साधुः, सामायिकशलाकया ॥५२॥

अर्थ – कर्म और जीव परस्पर संश्लिष्ट (जुड़े = चिपके हुए) हैं, जिसे आत्मस्वरूप का निश्चित ज्ञान हो गया है, वह साधु समभाव = सामायिक रूपी सलाई से इन्हें पृथक् कर लेता है ॥५२॥

रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना ।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति, योगिनः परमात्मनः ॥५३॥

अर्थ – सामायिक रूपी सूर्य के द्वारा राग, द्वेष और मोह का अन्धकार नष्ट कर देने पर योगी पुरुष अपनी आत्मा में परमात्म-स्वरूप का दर्शन कर लेते हैं ॥५३॥

स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं, वैरिणोऽपि परस्परम् ।
अपि स्वार्थकृते साम्यभाजः साधोः प्रभावतः ॥५४॥

अर्थ – यद्यपि साधु अपने स्वार्थ के लिए समत्व का सेवन करते हैं, फिर भी समभाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे जीव भी परस्पर प्रेम-भाव धारण कर लेते हैं ॥५४॥

साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन, तत्कृते भावनाः श्रयेत् ।
अनित्यतामशरणं, भवमेकत्वमन्यताम् ॥५५॥
अशौचमाश्रवविधिं, संवरं कर्मनिर्जराम् ।
धर्मस्वाख्याततां लोकं, द्वादशीं बोधिभावनाम् ॥५६॥

अर्थ – समता की प्राप्ति निर्ममत्व से होती है, और निर्ममत्व को पाने के लिए बारह भावनाओं का आश्रय करना । वे भावना इस प्रकार है ॥५५-५६॥

यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् ही !, पदार्थानामनित्यता ॥५७॥

अर्थ – प्रातःकाल जो दिखाई देता है, वह मध्याह्न में नहीं दिखाई देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है, वह

रातमें नजर नहीं आता । इसलिए अफसोस है इस संसार में समस्त पदार्थ अनित्य है ॥५७॥

शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थ-निबन्धनम् ।
प्रचण्ड-पवनोद्धूत-घनाघन-विनश्वरम् ॥५८॥

देहधारियों का यह शरीर समस्त पुरुषार्थों का आधार है। परन्तु वह भी प्रचण्डवायु से उड़ाये गये बादलों के समान विनश्वर है ॥५८॥

कल्लोल-चपला लक्ष्मीः, सङ्गमाः स्वप्नसन्निभाः ।
वात्या-व्यतिकरोत्क्षिप्ततूल-तुल्यं च यौवनम् ॥५९॥

अर्थ – लक्ष्मी समुद्र की तरंगों के समान चपल है, प्रियजनों के संयोग स्वप्न के समान क्षणिक है और यौवन आन्धी से उडाई गयी आक की रुई के समान अस्थिर है ॥५९॥

इत्यनित्यं जगद्वृत्तं, स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् ।
तृष्णाकृष्णाहिमन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥६०॥

अर्थ – इस प्रकार स्थिरचित्त से प्रतिक्षण तृष्णा रूपी काले भुजंग को वश करने में मन्त्र के समान निर्ममत्वभाव को जगाने के लिए जगत् के अनित्य स्वरूप का चिंतन करना चाहिए ॥६०॥

इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम् ।
अहो तदन्तकातङ्के, कः शरण्यः शरीरिणाम् ? ॥६१॥

अर्थ – अहो ! जब इन्द्र, देव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि मनुष्य भी मृत्यु का विषय बन जाते हैं, तब मृत्यु के आतंक के समय जीवों को शरण देने वाला कौन है ? मृत्यु के समय इन्द्र की भी कोई रक्षा नहीं कर सकता ॥६१॥

पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यताम् ।
अत्राणो नीयते जन्तुः, कर्मभिर्यमसद्मनि ॥६२॥

अर्थ – पिता, माता, बहन, भाई और पुत्र आदि स्वजनों के देखते ही देखते कर्म अत्राण-शरणविहीन प्राणी को चारगति रूप यमराज के सदन में ले जाते हैं। उस समय कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता । वास्तव में जीव अपने कर्मानुसार चतुर्गति रूप संसार में विविध गतियों व योनियों में जाता है ॥६२॥

शोचन्ति स्वजनानन्तनीयमानान् स्वकर्मभिः ।
नेष्यमाणं तु शोचन्ति, नात्मानं मूढबुद्धयः ॥६३॥

अर्थ – मूढ़बुद्धि लोग अपने कर्मों के द्वारा मृत्यु के द्वार पर ले जाये जाते हुए स्वजनों के लिए शोक करते हैं, परन्तु वे मूर्ख यों सोचकर अपने लिये शोक नहीं करते कि हम भी भविष्य में एक दिन मौत का शिकार बन जायेंगे ॥६३॥

संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलज्ज्वालाकरालिते ।
वने मृगार्भकस्येव, शरणं नास्ति देहिनां ॥६४॥

अर्थ – वन में सिंह का आक्रमण होने पर हिरने के बच्चे को कोई भी बचा नहीं सकता, इसी प्रकार दुःख रूपी

दावाग्नि की जाज्वल्यमान भीषण ज्वालाओं से जलते हुए संसार में जीव को बचाने वाला कोई नहीं है ॥६४॥

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी, पत्तिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः ।
संसारनाट्ये नटवत्, संसारी हन्त ! चेष्टते ॥६५॥

अर्थ – अफसोस है, इस संसार रूपी नाट्यशाला में नट की तरह संसारी जीव विभिन्न चेष्टाएँ करता है। कभी वेदपाठी श्रोत्रिय बनता है, कभी चाण्डाल, कभी सेवक, कभी स्वामी कभी प्रजापति (ब्रह्मा) बनता है और कभी कीड़ा बनता है ॥६५॥

न याति कतमां योनिं, कतमां वा न मुञ्चति ।
संसारी कर्मसम्बन्धादवक्रयकुटीमिव ॥६६॥

अर्थ – संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव कर्म के संयोग से किराये की कुटिया के समान किस योनि में नहीं जाता और किस योनि को नहीं छोड़ता ? ॥६६॥

समस्तलोकाकाशेऽपि, नानारूपैः स्वकर्मभिः ।
वालाग्रमपि तन्नास्ति, यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः ॥६७॥

अर्थ – समग्र लोकाकाश में बाल की नोक पर आये, इतना स्थान भी नहीं बचा है, जिसे शरीरधारियों ने अपने विविध कर्मों के उदय से नाना रूप में जन्म-मरण पाकर स्पर्श न किया हो ॥६७॥

एक उत्पद्यते जन्तुरेक एव विपद्यते ।
कर्माण्यनुभवत्येकः, प्रचितानि भवान्तरे ॥६८॥

अर्थ – यह जीव अकेला असहाय ही उत्पन्न होता है और अकेला ही शरीर छोड़कर मर जाता है तथा जन्म-जन्मांतर में संचित कर्मों को भी यह अकेला ही भोगता है ॥६८॥

अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं, भूयः सम्भूयः भुज्यते ।
स त्वेको नरकक्रोडे, क्लिश्यते निजकर्मभिः ॥६९॥

अर्थ – उसके द्वारा महारम्भ और महापरिग्रह आदि उपायों से अर्जित धन का उपभोग दूसरे – बन्धु-बान्धव, कुटुम्ब परिवार, नौकर आदि मिलकर करते हैं। परन्तु वह धन का उपार्जन करने वाला तो अकेला ही अपने दुष्कर्मों से नरक की गोद में जाकर महादुःख भोगता है ॥६९॥

यत्राऽन्यत्वं शरीरस्य, वैसदृश्याच्छरीरिणः ।
धन-बन्धु-सहायानां, तत्राऽन्यत्वं न दुर्वचम् ॥७०॥

अर्थ – जहाँ आत्मा और शरीर आधार-आधेय, अरूपी-रूपी, चेतन-अचेतन (जड़), नित्य-अनित्य है, तथा शरीर जन्मांतर में साथ नहीं जाता है, जबकि आत्मा जन्मान्तर में भी साथ रहता है, इससे शरीर और शरीरी (आत्मा) की भिन्नता-विसदृशता स्पष्ट प्रतीत होती है, तब फिर वहाँ यह कहना असत्य नहीं है कि धन, बन्धु, माता-पिता, मित्र, सेवक, पत्नी-पुत्र आदि तथाकथित सहायक (आत्मा से) भिन्न हैं ॥७०॥

यो देह-धन-बन्धुभ्यो, भिन्नमात्मानमीक्षते ।
क्व शोकशङ्कुना, तस्य हन्तातङ्कः प्रतन्यते ? ॥७१॥

अर्थ – जो अपनी आत्मा को शरीर, धन, स्वजन, बन्धु आदि से भिन्न स्वरूप में देखता है, उसका आत्मा वियोग जनित शोक रूपी कील से भला कैसे आतंकित-पीड़ित हो सकता है ? ॥७१॥

रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत् कुतः ? ॥७२॥

अर्थ – आहार करने के बाद उसका रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से मेद और मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य और वीर्य से आंतें और आंतों से विष्ठा बनती है । इस प्रकार यह शरीर अशुचि (गन्दे) पदार्थों का भाजन है, तब फिर यह काया पवित्र कहाँ से हो सकती है ? ॥७२॥

नवस्रोतः श्रवद्विस्त्ररसनिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसङ्कल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ॥७३॥

अर्थ – दो नेत्र, दो कान, दो नाक के नथुने, मुख, गुदा और लिंग, ये पुरुष के शरीर में नौ द्वार एवं स्त्री के बारह द्वारा है, इनमें से निरन्तर झरती रहती गन्दगी (बदबूदार घिनौनी चीज) से देह लिपटा रहता है । ऐसे घिनौने शरीर के बारे में भी पवित्रता की कल्पना करना, महामोह की ही विडम्बना है ॥७३॥

मनोवाक्कायकर्माणि, योगाः कर्मशुभाशुभम् ।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥७४॥

अर्थ – मन, वचन और काया के व्यापार (प्रवृत्ति या क्रिया) योग कहलाते हैं । इन योगों के द्वारा ही जीवों में शुभाशुभ कर्म चारों ओर से खिंचकर आते हैं । इसलिए इनको (योगों को) ही 'आश्रव' कहा गया ॥७४॥

मैत्र्यादिवासितं चेतः, कर्म सूते शुभात्मकम् ।
कषाय-विषयाक्रान्तं, वितनोत्यशुभं पुनः ॥७५॥

अर्थ – मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ्य) लक्षण से युक्त चार भावनाओं से भावित मन पुण्य रूप शुभकर्म उपार्जित करता है । इससे सातावेदनीय, सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र प्राप्त करता है, जबकि वही मन क्रोधादिकषायों और इन्द्रियविषयों से आक्रान्त (अभिभूत) होने पर अशुभकर्म उपार्जित करता है । इससे असातावेदनीय आदि प्राप्त करता है ॥७५॥

शुभार्जनाय निर्मिथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयं अशुभार्जनहेतवे ॥७६॥

अर्थ – शुभकर्म के उपार्जन के लिए द्वादशांगी गणिपिटक रूप श्रुतज्ञान के अनुकूल वचन बोलने चाहिए । इसके विपरीत अशुभकर्म के उपार्जन के लिए श्रुतज्ञान-विरोधी वचन जानने चाहिए ॥७६॥

शरीरेण सुगुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभम् ।
सततारम्भिणा जन्तुघातकेनाऽशुभं पुनः ॥७७॥

अर्थ – सावद्य-कुचेष्टओं से सुगुप्त शरीर से शरीरी (जीव) शुभकर्मों का संचय करता है, जबकि सतत आरम्भ में प्रवृत्त रहने वाले या प्राणियों की हिंसा करने वाले शरीर से वही अशुभ कर्मों का संग्रह करता है ॥७७॥

कषाया विषया योगाः, प्रमादाऽविरती तथा ।
मिथ्यात्वमार्तरौद्रे, चेत्यशुभं प्रति हेतवः ॥७८॥

अर्थ – कषाय, पाँचों इन्द्रियों के विषय अशुभयोग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त्त-रौद्रध्यान, ये सभी अशुभकर्मबन्धन के हेतु हैं ॥७८॥

सर्वेषामाश्रवाणां तु, निरोधः संवरः स्मृतः ।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा, द्रव्यभावविभेदतः ॥७९॥

अर्थ – पूर्वोक्त सभी आश्रवों को रोकना संवर कहलाता है। यह तो अयोगी केवलियों में ही होता है। यह कथन सर्वसंवर की अपेक्षा से है । एक, दो, तीन आदि आश्रवों को रोकना देशसंवर कहलाता है । सर्वसंवर अयोगीकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानक में होता है । सर्वसंवर और देशसंवर दोनों के द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो-दो भेद होते हैं ॥७९॥

यः कर्म पुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः ।
भवहेतुक्रिया-त्यागः, स पुनर्भावसंवरः ॥८०॥

अर्थ – आश्रवद्वार से कर्मपुद्गलों के आगमन का

निरोध करना, द्रव्यसंवर है और संसार की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना, भावसंवर है ॥८०॥

येन येन ह्युपायेन, रुध्यते यो य आश्रवः ।
तस्य तस्य निरोधाय, स स योज्यो मनीषिभिः ॥८१॥

अर्थ – जो-जो आस्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सकता है, उसे रोकने के लिए विवेकी पुरुष उस-उस उपाय को काम में लाये ॥८१॥

क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया ।
क्रोधं मानं तथा मायां, लोभं रुन्ध्याद् यथाक्रमम् ॥८२॥

अर्थ – क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को रोके ॥८२॥

असंयमकृतोत्सेकान्, विषयान् विषसन्निभान् ।
निराकुर्यादखण्डेन, संयमेन महामतिः ॥८३॥

अर्थ – संयम प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला योगी इन्द्रियों पर असंयम से प्रबल बने हुए, विषतुल्य विषयों को महाबुद्धिमान मुनि अखंड-संयम से रोके ॥८३॥

तिसृभिगुप्तिभिर्योगान्, प्रमादं चाप्रमादतः ।
सावद्ययोगहानेनाविरतिं चापि साधयेत् ॥८४॥

अर्थ – मन, वचन और काया के योग (व्यापार) को मन, वचन और काया की रक्षा रूप तीन गुप्तियों द्वारा मद्यपान, विषय-सेवन, कषाय, निद्रा, विकथा रूप पाँच

प्रकार के अथवा अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म में अनादर, योगों की दुष्प्रवृत्ति रूप आठ प्रकार के प्रमाद के प्रतिपक्षी अप्रमाद को सिद्ध करे और सावद्य (पाप) व्यापार वाले योग को त्यागकर अविरति को विरति से सिद्ध करे ॥८४॥

सद्दर्शनेन मिथ्यात्वं, शुभस्थैर्येण चेतसः ।
विजयेतार्त्त-रौद्रे च संवरार्थं कृतोद्यमः ॥८५॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करे, धर्मध्यान-शुक्लध्यान रूप चित्त की स्थिरता से आर्त्तरौद्रध्यान पर विजय प्राप्त करे । कौन करे ? संवर के लिए उद्यम करने वाला योगी करे ॥८५॥

संसारबीजभूतानां, कर्मणां जरणादिह ।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामाकामवर्जिता ॥८६॥

अर्थ – संसार-भ्रमण के बीजभूत कर्मों का आत्मप्रदेश से झड़ जाना या पृथक हो जाना निर्जरा है । वह दो प्रकार की है – सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा ॥८६॥

ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ।
कर्मणां फलवत्पाको, यदुपायात् स्वतोऽपि हि ॥८७॥

अर्थ – संयमी पुरुषों की निर्जरा सकाम समझनी चाहिए और उनसे अतिरिक्त जितने भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव हैं, उनकी निर्जरा अकाम है। जैसे फल दो प्रकार से पकता है, एक तो उपाय से, दूसरे स्वतः ही पेड़ पर, वैसे ही

जिसमें कर्मों को तप आदि उपायों से शीघ्र भोगकर क्षय किया जाता है, वह सकामनिर्जरा है और जिसमें समय पर कर्म स्वतः उदय में आकर अनिच्छा से जबरन भोगे जाते हैं, तब क्षय होते हैं, वह अकाम निर्जरा है ॥८७॥

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा ।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥८८॥

अर्थ – जैसे सदोष (मैलसहित) सोना प्रदीप्त आग में तपाने पर शुद्ध हो जाता है, वैसे अशुभकर्म रूप दोष से युक्त जीव भी तप रूपी अग्नि में तपने पर विशुद्ध हो जाता है ॥८८॥

अनशनमौनोदर्यं, वृत्तेः सङ्क्षेपणं तथा ।
रसत्यागस्तनुक्लेशो, लीनतेति बहिस्तपः ॥८९॥

अर्थ – आहारत्याग रूपी अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश एवं संलीनता, इस प्रकार बाह्यतप ६ प्रकार का है ॥८९॥

प्रायश्चित्तं, वैयावृत्त्यं, स्वाध्यायो विनयोऽपि च ।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं, षोढेत्याभ्यन्तरं तपः ॥९०॥

अर्थ – प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग और शुभध्यान ये ६ प्रकार के अभ्यंतर तप है ॥९०॥

दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च ।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥९१॥

अर्थ – बाह्य और अभ्यन्तर तप रूपी अग्नि जब प्रज्वलित होती है, तब संयमी पुरुष मुश्किल से क्षीण होने

वाले ज्ञानावरणीयादि कर्मों को (अथवा दुष्कर्म वन को) शीघ्र जलाकर भस्म कर देता है ॥९१॥

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः ।
यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥९२॥

अर्थ – जिनोत्तम भगवन्तों ने इस धर्म का भलीभांति प्रतिपादन किया है । जिसका आलम्बन लेने वाला जीव संसारसागर में नहीं डूबता ॥९२॥

संयमः सूनृतं शौचं, ब्रह्माऽकिञ्चनता तपः ।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता, मुक्तिश्च दशधा स तु ॥९३॥

अर्थ – वह दस प्रकार का है – १. संयम, २. सत्य, ३. शौच, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अकिंचनता, ६. तप, ७. क्षमा, ८. मृदुता, ९. सरलता और १०. निर्लोभता ॥९३॥

धर्मप्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतीप्सितम् ।
गोचरेऽपि न ते यत्स्युरधर्माधिष्ठितात्मनाम् ॥९४॥

अर्थ – धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न आदि (सुषमकाल में वनस्पति और पाषाण रूप होने पर भी) धर्मात्मा जीवों को अभीष्ट फल देते है। वे ही कल्पवृक्ष आदि दुःषमकाल आदि में दृष्टिगोचर भी नहीं होते, फिर भी इष्ट (अर्थप्राप्ति रूप) फल प्रदान करते हैं ॥९४॥

अपारे व्यसनाम्भोधौ, पतन्तं पाति देहिनम् ।
सदा सविधवर्त्येक-बन्धुर्धर्मोऽतिवत्सलः ॥९५॥

अर्थ – धर्म अपार दुःख-समुद्र में गिरते हुए मनुष्य को बचाता है तथा सदैव निकट रहने वाला एकमात्र बन्धु है, वही अतिवत्सल है ॥९५॥

आप्लावयति नाम्भोधिराश्वासयतिचाम्बुदः ।
यन्महीं स प्रभावोऽयं, ध्रुवं धर्मस्य केवलः ॥९६॥

अर्थ – समुद्र इस पृथ्वी को डूबा नहीं देता तथा बादल पृथ्वी पर जो उपकार करता है, वह निःसंदेह एकमात्र धर्म का ही प्रभाव है । इसमें अनर्थ का परिहार और अर्थ प्राप्ति फल कहा है ॥९६॥

न ज्वलत्यनलस्तिर्यग्, यदूर्ध्वं वाति नानिलः ।
अचिन्त्यमहिमा तत्र, धर्म एव निबन्धनम् ॥९७॥

अर्थ – जगत् में अग्नि की ज्वालाएँ यदि तिरछी जाती तो वह भस्म हो जाता और वायु ऊर्ध्वगति करता तो जीवों का जीना कठिन हो जाता । किन्तु ऐसा नहीं होता, इसका कारण धर्म का अचिन्त्य प्रभाव ही है ॥९७॥

निरालम्बा निराधारा, विश्वाधारा वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र, धर्मादन्यन्न कारणम् ॥९८॥

अर्थ – किसी अवलम्बन के बिना, शेषनाग, कछुआ, वराह, हाथी आदि आधार के बिना इस चराचर विश्व का आधार रूप पृथ्वी जो ठहरी हुई है, इसमें धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं है ॥९८॥

सूर्याचन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृतिहेतवे ।
उदयेते जगत्यस्मिन् नूनं धर्मस्य शासनात् ॥९९॥

अर्थ – यह सूर्य और चन्द्रमा जगत् के परोपकार के लिए इस लोक में प्रतिदिन उदित होते रहते हैं, इसमें निश्चय ही धर्म के शासन का प्रभाव है ॥९९॥

अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥१००॥

अर्थ – जिसका इस संसार में कोई बन्धु नहीं है उसका धर्म ही बन्धु है, क्योंकि विपत्ति में सहायता करने वाला, उससे पार उतारने वाला धर्म बन्धु ही है। जिसका कोई मित्र नहीं है उससे प्रेम करने वाला धर्म ही मित्र है। जिसका कोई नाथ नहीं है, उसका योग और क्षेम करने वाला धर्म ही नाथ है। कहा है कि 'जो योग और क्षेम करने वाला हो, वही नाथ कहलाता है।' इसलिए जगत् में अद्वितीय वत्सल यदि कोई है तो वह धर्म ही है। गाय के द्वारा बछड़े को स्नेह से जो सहलाया जाता है, उसे वात्सल्य कहते हैं, उसके समान सारे जगत् के लिए प्रीति (वत्सलता) का कारण होने से धर्म भी वत्सल है ॥१००॥

रक्षो-यक्षोरग-व्याघ्र-व्यालानलगरादयः ।
नापकर्तुमलं तेषां यैर्धर्मः शरणं श्रितः ॥१०१॥

अर्थ – जिन्होंने धर्म का शरण स्वीकार किया है, उनका राक्षस, यक्ष, सर्प, व्याघ्र, सिंह, अग्नि और विष आदि अपकार (नुकसान) नहीं कर सकते ॥१०१॥

धर्मो नरकपाताल-पातादवति देहिनः ।
धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञवैभवम् ॥१०२॥

अर्थ – धर्म जीवों को नरक रूपी पाताल में गिरने से बचाता है। धर्म अनुपम सर्वज्ञ का वैभव भी प्राप्त कराता है ॥१०२॥

कटिस्थकरवैशाख-स्थानकस्थ-नराकृतिम् ।
द्रव्यैः पूर्णं स्मरेल्लोकं, स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकैः ॥१०३॥

अर्थ – कमर पर दोनों हाथ रखकर और पैरों को फैलाकर खड़े हुए मनुष्य की आकृति के समान आकृति वाले और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म वाले द्रव्यों से पूर्ण लोक का चिंतन करे ॥१०३॥

लोको जगत्-त्रयाकीर्णो, भुवः सप्ताऽत्र वेष्टिताः ।
घनाम्भोधि-महावात-तनुवातैर्महाबलैः ॥१०४॥

अर्थ – यह लोक तीन जगत् से व्याप्त है। उसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के नाम से पुकारा जाता है। अधोलोक में सात नरकभूमियाँ हैं, जो महासमर्थ घनोदधि, घनवात और तनुवात से क्रमशः वेष्टित है ॥१०४॥

वेत्रासनसमोऽधस्तात्, मध्यतो झल्लरीनिभः ।
अग्रे मुरजसङ्काशो, लोकः स्यादेवमाकृतिः ॥१०५॥

अर्थ – यह लोक नीचे के भाग में वेत्रासन के आकार का है यानी नीचे का भाग विस्तृत है और ऊपर का भाग

क्रमशः संकुचित (सिकुड़ा हुआ) है, मध्यभाग झालर के आकार का है और ऊपर का भाग मृदंग के से आकार का है । तीनों लोकों की इस प्रकार की आकृति मिलाने से पूरे लोक का आकार बन जाता है ॥१०५॥

निष्पादितो न केनापि, न धृतः केनचिच्च सः ।
स्वयंसिद्धो निराधारो, गगने किन्त्ववस्थितः ॥१०६॥

अर्थ - इस लोक को न किसी ने बनाया है और न किसी ने धारण कर रखा है । यह अनादिकाल से स्वयंसिद्ध है और आधार के बिना आकाश पर स्थित है ॥१०६॥

अकामनिर्जरारूपात्, पुण्याज्जन्तोः प्रजायते ।
स्थावरत्वात् त्रसत्वं वा, तिर्यक्त्वं वा कथञ्चन ॥१०७॥

अर्थ - अकामनिर्जरा रूपी पुण्य से जीव को स्थावर पर्याय से त्रस पर्याय प्राप्त होता है अथवा वह तिर्यंचगति प्राप्त करता है ॥१०७॥

मानुष्यमार्यदेशश्च, जाातिः सर्वाक्षपाटवम् ।
आयुश्च प्राप्यते तत्र, कथञ्चित्कर्मलाघवात् ॥१०८॥

अर्थ - उसके बाद अधिक कर्मों से अत्यधिक हलके (लघु) होने पर जीव को मनुष्य-पर्याय, आर्यदेश तथा उत्तम जाति में जन्म, पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता और दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है ॥१०८॥

प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा-कथकश्रवणेष्वपि ।
तत्त्वनिश्चयरूपं तद्, बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ॥१०९॥

अर्थ - कर्मों के लाघव (हलकापन) से और पुण्य अर्थात् शुभकर्म के उदय से धर्माभिलाषा रूपी श्रद्धा, धर्मोपदेशक गुरुमहाराज और उनके वचन-श्रवण करने की प्राप्ति होती है । परन्तु यह सब होने पर भी तत्त्व-निश्चय रूप (अथवा तत्त्व रूप) देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ़ अनुराग, तद् रूप बोधि-(सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति) होना अत्यन्त कठिन है ॥१०९॥

भावनाभिरविश्रान्तमिति, भावितमानसः ।
निर्ममः सर्वभावेषु, समत्वमवलम्बते ॥११०॥

अर्थ - इन बारह भावनाओं से जिसका मन निरन्तर भावित रहता है, वह सभी भावों पर ममता-रहित होकर समभाव का आलम्बन लेता है ॥११०॥

विषयेभ्यो विरक्तानां, साम्यवासितचेतसाम् ।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधिदीपः समुन्मिषेत् ॥१११॥

अर्थ - विषयों से विरक्त और समभाव से युक्त चित्त वाले योगी पुरुषों की कषाय रूपी अग्नि शान्त हो जाती है और सम्यक्त्व रुपी दीपक प्रकट हो जाता है ॥१११॥

समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत् ।
विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते ॥११२॥

अर्थ - समत्व का अवलम्बन लेने के बाद योगी को ध्यान का आश्रय लेना चाहिए । समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान के प्रारम्भ करने पर अपनी आत्मा विडम्बित

होती है। क्योंकि बिना समत्व के ध्यान में भलीभांति प्रवेश नहीं हो सकता ॥११२॥

मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥११३॥

अर्थ – कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है, कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है । इस बात में विवाद नहीं है । आत्मज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। इसलिए ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना जाता है ॥११३॥

न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत् ।
निष्कम्पं जायते तस्माद्, द्वयमन्योऽन्यकारणम् ॥११४॥

अर्थ – साम्य के बिना ध्यान नहीं होता और ध्यान के बिना साम्य सिद्ध नहीं होता। दोनों के होने पर ही निष्कंपता आती है, इसलिए एक दोनों दूसरे के कारण रूप है । ॥११४॥

मुहूर्त्तान्तर्मनःस्थैर्यं, ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम् ।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा, योगरोधस्त्वयोगिनाम् ॥११५॥

अर्थ – छद्मस्थ-योगियों का अन्तःमुहूर्तकाल तक ही मन का स्थिर रहना ध्यान है। वह ध्यान दो प्रकार का है, प्रथम धर्मध्यान और दूसरा शुक्लध्यान । अयोगियों के तो योग का निरोध होता ही है ॥११५॥

मुहूर्त्तात् परतश्चिन्ता, यद्वा ध्यानान्तरं भवेत् ।
बह्वर्थसङ्क्रमे तु स्याद् दीर्घाऽपि ध्यान-सन्ततिः ॥११६॥

अर्थ – एक पदार्थ में मुहूर्तकाल तक ध्यान व्यतीत होने के बाद वह ध्यान स्थिर नहीं रहता, फिर वह चिन्तन करेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान करेगा, परन्तु एक पदार्थ में एक मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि उसका ऐसा ही स्वभाव है। इस तरह एक अर्थ से दूसरे अर्थ का आलम्बन करता है और तीसरे का आलम्बन लेकर ध्यान करता है, फिर चौथे को इस तरह लम्बे समय तक ध्यान की परम्परा चालू रहती है । मुहूर्तकाल के बाद प्रथम ध्यान समाप्त होता है, बाद में दूसरे अर्थ का आलम्बन करता है इस तरह ध्यान की वृद्धि करने के लिए भावना करनी चाहिए ॥११६॥

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्म्यध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥११७॥

अर्थ – धर्मध्यान टूट जाता हो तो मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थभावना में मन को जोड़ देना चाहिए। क्योंकि जरा से जर्जरित शरीर वाले के लिए जैसे रसायन उपकारी होता है, वैसे ही धर्मध्यान के लिए मैत्री आदि भावना रूप रसायन है ॥११७॥

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते ॥११८॥

अर्थ – जगत् का कोई जीव पाप न करे तथा कोई भी जीव दुःखी न हो, समस्त जीव दुःख से मुक्त होकर सुखी हों, इन प्रकार का चिन्तन करना, मैत्रीभावना है ॥११८॥

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥११९॥

अर्थ – जिन्होंने सभी दोषों का त्याग किया है और जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखते हैं, उन साधुपुरुषों के गुणों के प्रति आदरभाव होना, उनकी प्रशंसा करना, 'प्रमोद भावना' है ॥११९॥

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतिकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥१२०॥

अर्थ – दीन, पीड़ित, भयभीत और जीवन की याचना करने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की बुद्धि 'करुणा-भावना' कहलाती है ॥१२०॥

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं, देवता-गुरु-निन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥१२१॥

अर्थ – निःशंकता से क्रूर कार्य करने वाले, देव-गुरु की निंदा करने वाले और आत्मप्रशंसा करने वाले जीवों पर उपेक्षा रखना माध्यस्थ्यभावना है ॥१२१॥

आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः ।
त्रुटितामपि सन्धत्ते, विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥१२२॥

अर्थ – मैत्री आदि चार भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने वाला महाबुद्धिशाली योगी टूटी हुई विशुद्ध ध्यान-श्रेणी को फिर से जोड़ लेता है ॥१२२॥

तीर्थं वा स्वस्थताहेतु, यत्तद् वा ध्यानसिद्धये ।
कृतासनजयो योगी, विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥१२३॥

अर्थ – आसनों का अभ्यास कर लेने वाला योगी ध्यान की सिद्धि के लिए तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, कैवल्य अथवा निर्वाणभूमि में जाये । यदि वहाँ जाने की सुविधा न हो तो किसी एकान्त-स्थान का आश्रय ले ॥१२३॥

पर्यङ्क-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च ।
उत्कटिका-गोदोहिका-कायोत्सर्गस्तथाऽऽसनम् ॥१२४॥

अर्थ – १. पर्यंकासन, २. वीरासन, ३. वज्रासन, ४. पद्मासन, ५. भद्रासन, ६. दंडासन, ७. उत्कटिकासन, ८. गोदोहिकासन, ९. कायोत्सर्गासन आदि आसनों के नाम हैं॥१२४॥

स्याज्जङ्घयोरधोभागे, पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तर-पाणिकः ॥१२५॥

अर्थ – दोनों जंघाओं के नीचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर दाहिना और बांया हाथ नाभि के पास ऊपर रखने से 'पर्यङ्कासन' होता है ॥१२५॥

वामोऽह्रिर्दक्षिणोरूध्वं वामोरूपरि दक्षिणः ।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम् ॥१२६॥

अर्थ – बांया पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बांयी जांघ पर जिस आसन में रखा जाता है, वह वीरोचित आसन, वीरासन कहलाता है ॥१२६॥

पृष्ठे वज्राकृतीभूते दोर्भ्यां वीरासने सति ।
गृह्णीयात् पादयोर्यत्राङ्गुष्ठौ वज्रासनं तु तत् ॥१२७॥

अर्थ – पूर्व कथित वीरासन करने के बाद वज्र की आकृति के समान दोनों हाथ पीछे रखकर, दोनों हाथों से पैर के अंगूठे पकड़ने पर जो आकृति बनती है, वह वज्रासन कहलाता है ॥१२७॥

सिहासनाधिरूढस्यासनापनयेन सति ।
तथैवावस्थितिर्या तामन्ये वीरासनं विदुः ॥१२८॥

अर्थ – कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो और पीछे से उसका सिंहासन हटा दिया जाये, उससे उसकी जो आकृति बनती है, वह 'वीरासन' है । सिद्धांतकारों ने कायक्लेशतप के प्रसंग में इस आसन को बताया है ॥१२८॥

जङ्घाया मध्यभागे तु, संश्लेषो यत्र जङ्घया ।
पद्मासनमिति प्रोक्तं, तदासन-विचक्षणैः ॥१२९॥

अर्थ – आसनविशेषज्ञों ने एक जांघ के साथ दूसरी जांघ को मध्यभाग में मिलाकर रखने को पद्मासन कहा है ॥१२९॥

सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे, तलपादौ तथोपरि ।
पाणिकच्छपिकां कुर्याद् यत्र भद्रासनं तु तत् ॥१३०॥

अर्थ – दोनों पैरों के तलभाग वृषण-प्रदेश में (अण्डकोषों की जगह) एकत्र कर ऊसके ऊपर दोनों हाथों की अंगुलियाँ एक दूसरी अंगुली में डालकर रखना 'भद्रासन' कहलाता है ॥१३०॥

श्लिष्टाङ्गुली श्लिष्टगुल्फौ, भूश्लिष्टोरू प्रसारयेत् ।
यत्रोपविश्य पादौ तद्, दण्डासनमुदीरितम् ॥१३१॥

अर्थ – पैरों की अंगुलियाँ समेटकर एड़ी के ऊपर वाली गांठ (रखना) एकत्र करके नितंब को भूमि से स्पर्श करके बैठे, पैर लम्बे करे, उसे दण्डासन कहा है ॥१३१॥

पुतपार्ष्णिसमायोगे, प्राहूरुत्कटिकासनम् ।
पार्ष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे, तत्स्याद् गोदोहिकासनम् ॥१३२॥

अर्थ – जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब नितंब मिलते हैं, तब उत्कटिकासन होता है । उसी आसन से बैठकर दोनों एड़ियों से जब भूमि का त्याग किया जाता है और गाय दूहने के समय जिस आसन से बैठा जाता है, उसे गोदोहिकासन कहते हैं इसी आसन में भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था । कहा हे कि 'जृंभिका के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे वैशाख सुदी दसमी के दिन तीसरे प्रहर छट्ठ तप में शालवृक्ष के नीचे वीरप्रभु गोदोहिकासन में थे, उस समय उन्हें केवलज्ञान हुआ था ।' ॥१३२॥

प्रलम्बितभुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा ।
स्थानं कायानपेक्षं यत्, कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ॥१३३॥

अर्थ – दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकार खड़े होकर अथवा बैठकर (और शारीरिक कमजोरी की अवस्था में लेटकर) शरीर का ममत्व त्यागकर स्थिर रहना कायोत्सर्गासन है ॥१३३॥

जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः ।
तत्तदेव विधातव्यम्, आसनं ध्यान-साधनम् ॥१३४॥

अर्थ – जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उस-उस आसन का ध्यान के साधन रूप में प्रयोग करना चाहिए । इसमें ऐसा आसन ही करना चाहिए, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है ॥१३४॥

सुखासनसमासीनः, सुश्लिष्टाधरपल्लवः ।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो, दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥१३५॥
प्रसन्नवदनः पूर्वाभिमुखो वाऽप्युदङ्मुखः ।
अप्रमत्तः सुसंस्थानो, ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत् ॥१३६॥

अर्थ – सुखासन से स्थिर रहे, उसके दोनों ओष्ठ मिले हुए हों, दोनों नेत्र, नाक के अग्रभाग पर स्थिर हो, दांतों के साथ दांतों का स्पर्श न हो, मुखमंडल प्रसन्न हो, पूर्व या उत्तर दिशा में मुख हो, प्रमाद से रहित हो, इस प्रकार मेरुदण्ड को सीधा रखकर ध्याता को ध्यान के लिए उद्यत होना चाहिए ॥१३५-१३६॥

५. पंचम प्रकाश

प्राणायामस्ततः कैश्चिद्, आश्रितो ध्यानसिद्धये ।
शक्यो नेतरथा कर्तुं, मनः-पवन-निर्जयः ॥१॥

अर्थ – आसन को सिद्ध करने के बाद ध्यान की सिद्धि के लिए पतंजलि आदि योगाचार्यों ने प्राणायाम का आश्रय लिया है । मुख और नासिका के अन्दर संचार करने वाला वायु 'प्राण' कहलाता है, उसके संचार का निरोध करना 'प्राणायाम' है । प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नहीं जा सकता ॥१॥

मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः ।
अतस्तुल्यक्रियावैतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत् ॥२॥

अर्थ – जहाँ मन है, वहीं पवन है और जहाँ पवन है, वहाँ मन है । इस कारण समान क्रिया वाले मन और पवन, दूध और जल की भांति आपस में मिले हुए हैं ॥२॥

एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो वृत्तौ च वर्तनम् ।
ध्वस्तयोरिन्द्रियमतिध्वंसान्मोक्षश्च जायते ॥३॥

अर्थ – मन और पवन इन दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दूसरे का नाश हो जाता है और एक की प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति होती है । जब इन दोनों का विनाश होता है, तब इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का नाश होता है और इन्द्रिय और बुद्धि के नाश से मोक्ष होता है ॥३॥

प्राणायामो गतिच्छेदः, श्वासप्रश्वासयोर्मतः ।
रेचकः पूरकश्चैव, कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥४॥

अर्थ – बाहर की वायु को ग्रहण करना, श्वास है। उदर के कोष्ठ में रहे हुए वायु को बहार निकालना, निश्वास अथवा प्रश्वास कहलाता है तथा इन दोनों की गति को रोकना, प्राणायाम है। वह रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से तीन प्रकार का है ॥४॥

प्रत्याहारस्तथा शान्तः, उत्तरश्चाधरस्तथा ।
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु, सप्तधा कीर्त्यते परैः ॥५॥

अर्थ – पूर्वोक्त तीन के साथ में प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर यह चार भेद मिलाने से प्राणायाम सात प्रकार का होता है, ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं ॥५॥

यत् कोष्ठादतियत्नेन, नासाब्रह्म-पुराननैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः, स रेचक इति स्मृतः ॥६॥

अर्थ – नासिका और ब्रह्मरन्ध्र तथा मुख के द्वारा कोष्ठ (उदर) में से अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक वायु बाहर निकालना, रेचक प्राणायाम कहलाता है ॥६॥

समाकृष्य यदापानात्, पूरणं स तु पूरकः ।
नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य, रोधनं स तु कुम्भकः ॥७॥

अर्थ – बाहर के वायु को खींचकर अपान (गुदा) द्वार पर्यन्त कोष्ठ में भर देना 'पूरक प्राणायाम' है और उसे

नाभिकमल में कुम्भ के समान स्थिर करके रोकना 'कुम्भक प्राणायाम' कहलाता है ॥७॥

स्थानात् स्थानान्तरोत्कर्षः, प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
तालुनासाऽऽननद्वारैः निरोधः शान्त उच्यते ॥८॥

अर्थ – नाभि आदि स्थान से हृदय आदि स्थान में वायु को ले जाना अर्थात् पवन को खींचकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है । तालु, नासिका और मुख के द्वारों से वायु का निरोध करना 'शान्त' नाम का प्राणायाम है। शान्त और कुम्भक में इतना अन्तर है कि कुम्भक में पवन नाभिकमल में रोका जाता है और शान्तप्राणायाम में ऐसा नियम नहीं है, बल्कि नासिका आदि निकलने के द्वारों से इसमें पवन रोका जाता है ॥८॥

आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।
उत्तरः स समाख्यातो, विपरीतस्ततोऽधरः ॥९॥

अर्थ – बाहर के वायु का पान करके और उसे ऊपर खींचकर हृदय आदि में स्थापित करना, 'उत्तर-प्राणायाम' कहलाता है, इसके विपरीत वायु उपर से नीचे की ओर ले जाना 'अधर-प्राणायाम' कहलाता है ॥९॥

रेचनादुदरव्याधेः, कफस्य च परिक्षयः ।
पुष्टिः पूरकयोगेन, व्याधिघातश्च जायते ॥१०॥
विकसत्याशु हृत्पद्मं ग्रन्थिरन्तर्विभिद्यते ।
बलस्थैर्यविवृद्धिश्च, कुम्भकाद् भवति स्फुटम् ॥११॥

प्रत्याहाराद्बलं कान्तिर्दोषशान्तिश्च शान्ततः ।
उत्तराधरसेवातः, स्थिरता कुम्भकस्य तु ॥१२॥

अर्थ - रेचक-प्राणायाम से उदर की व्याधि का और कफ का विनाश होता है पूरक प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है तथा सर्वव्याधियाँ नष्ट होती है। कुम्भक प्राणायाम करने से तत्काल हृदय-कमल विकसित होता है और अन्दर की ग्रन्थियों का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है और वायु की स्थिरता होती है। प्रत्याहार-प्राणायाम से शरीर में शक्ति और कान्ति उत्पन्न होती है, शान्त नामक प्राणायाम से वात-पित्त-कफ रूप त्रिदोष या सन्निपात (ज्वर) की शान्ति होती है, उत्तर और अधर प्राणायाम के सेवन से कुम्भक की स्थिरता होती है ॥१०-१२॥

प्राणमपान-समानावुदानं व्यानमेव च ।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियाऽर्थबीजवित् ॥१३॥

अर्थ - प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान यह पाँच प्रकार का पवन-वायु है, प्रत्येक पवन का स्थान, वर्ण, क्रिया अर्थ और बीज को जानकर योगी प्राणायाम के द्वारा इन पर विजय प्राप्त करे ॥१३॥

प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठान्तगो हरित् ।
गमागमप्रयोगेण, तज्जयो धारणेन वा ॥१४॥

अर्थ - प्राणवायु नासिका के अग्रभाग में, हृदय में,

नाभि में और पैर के अंगूठे तक फैला हुआ है। यह उसका स्थान है, उनका वर्ण हरा है, गमागम के प्रयोग अर्थात् रेचक और पूरक के प्रयोग से और धारण के द्वारा उसे जीतना चाहिए ॥४॥

नासादिस्थानयोगेन, पूरणाद् रेचनान्मुहुः ।
गमागमप्रयोगः स्याद् धारणं कुम्भनात् पुनः ॥१५॥

अर्थ - नासिका आदि स्थानों में बार-बार वायु का पूरण और रेचन करने से गमागम-प्रयोग होता है और उस वायु का अवरोध-(कुम्भक) करने से धारण नाम का प्रयोग होता है ॥१५॥

अपानः कृष्णरुग्मन्या-पृष्ठपृष्ठान्तपार्ष्णिगः ।
जयः स्वस्थानयोगेन, रेचनात् पूरणान्मुहुः ॥१६॥

अर्थ - अपानवायु का वर्ण काला है। गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एड़ी में उसका स्थान है, इन स्थानों में बार-बार रेचक और पूरक करके इसे जीतना चाहिए ॥१६॥

शुक्लः समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिष्ववस्थितः ।
जेयः स्वस्थानयोगेनासकृद् रेचन-पूरणात् ॥१७॥

अर्थ - समानवायु का वर्ण शुक्ल है। हृदय, नाभि और सर्वसंधियो में उसका निवास है। अपने-अपने स्थानों में बार-बार रेचक और पूरक करके उसे जीतना चाहिए ॥१७॥

रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रू-मध्यमूर्धनि संस्थितः ।
उदानो वश्यतां नेयो, गत्यागतिनियोगतः ॥१८॥

अर्थ – उदानवायु का वर्ण लाल है। हृदय, कंठ, तालु, भ्रुकुटि का मध्यभाग और मस्तक में उसका स्थान है। इसे भी गति-अगति के प्रयोग से वश में करना चाहिए ॥१८॥

नासाकर्षणयोगेन, स्थापयेत् तं हृदादिषु ।
बलादुत्कृष्यमाणं च, रुद्ध्वा रुद्ध्वा वशं नयेत् ॥१९॥

अर्थ – नासिका के द्वारा बहार से वायु को खींचकर उदानवायु को हृदयादि स्थानों में स्थापित करना चाहिए। यदि वह वायु दूसरे स्थान में जाता हो तो उसे जबरदस्ती रोककर उसी स्थान पर बार-बार निरोध करना चाहिए। अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करके कुछ समये रोके, बाद में रेचक करे। मतलब यह है-नासिका के एक छिद्र से वायु धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिए, फिर उसी छिद्र द्वारा उसे अन्दर खीचकर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से वायु वशीभूत हो जाता है ॥१९॥

सर्वत्वग्वृत्तिको व्यानः, शक्रकार्मुकसन्निभः ।
जेतव्यः कुम्भकाभ्यासात्, सङ्कोच-प्रसृतिक्रमात् ॥२०॥

अर्थ – व्यान-वायु का वर्ण इन्द्रधनुष के समान विविध रंगवाला है। त्वचा के सब भागों में उसका निवास-स्थान है संकोच और प्रसार अर्थात् पूरक और रेचक प्राणायाम के क्रम से तथा कुम्भक के अभ्यास से उसे जीतना चाहिए ॥२०॥

प्राणापान-समानोदान-व्यानेष्वेषु वायुषु ।
यैँ पैँ वैँ रैँ लौँ बीजानि, ध्यातव्यानि यथाक्रमम् ॥२१॥

अर्थ – प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु को उस स्थान से जीतने के लिए पूरक, कुम्भक और रेचकप्राणायाम करते समय क्रमशः 'यैँ' आदि बीजाक्षरों का ध्यान करना चाहिए। अर्थात् प्राणवायु को जीतने के समय 'यैँ' बीज का, अपानवायु को जीतने के समय 'पैँ' का, समान को जीतने के समय 'वैँ' का, उदान को जीतने के समय 'रौँ' का, और व्यान को जीतने के समय 'लौँ' बीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए। अर्थात् 'यैँ' आदि अक्षरों की आकृति की कल्पना कर उसका जाप पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय करना चाहिए ॥२१॥

प्राबल्यं जठरस्याग्ने, दीर्घश्वासमरुज्जयौ ।
लाघवं च शरीरस्य, प्राणस्य विजये भवेत् ॥२२॥

अर्थ – प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है, अविच्छिन्न रूप से श्वास की प्रवृत्ति चलती है, दम (श्वासरोग) नहीं होता और शेष वायु भी वश में हो जाती है, क्योंकि प्राणवायु पर सभी वायु आश्रित है। इससे शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है ॥२२॥

रोहणं क्षतभङ्गादेः उदराग्नेः प्रदीपनम् ।
वर्चोऽल्पत्वं व्याधिघातः समानापानयोर्जये ॥२३॥

अर्थ – समानवायु और अपानवायु को जीतने से घाव आदि जल्दी भर जाता है, टूटी हुई हड्डी जुड़ जाती है । आदि शब्द कहने से उस प्रकार के सभी शारीरिक दुःख नष्ट हो जाते हैं, जठराग्नि तेज हो जाती है, मलमूत्रादि अल्प हो जाते हैं और व्याधियाँ विनष्ट हो जाती है ॥२३॥

उत्क्रान्तिर्वारिपङ्काद्यैश्चाबाधोदान निर्जये ।
जये व्यानस्य शीतोष्णासङ्गः कान्तिररोगिता ॥२४॥

अर्थ – उदानवायु वश में करने से योगी उत्क्रान्ति (अर्थात् मृत्यु के समय दशवें द्वार से प्राण त्याग) कर सकता है । पानी और कीचड़ आदि पर चलने से उसका स्पर्श नहीं होता, कांटों या अग्नि आदि पर निरुपद्रव रूप में वह सीधे मार्ग के समान चल सकता है । तथा व्यानवायु वश करने से शरीर में सर्दी–गर्मी का असर नहीं होता, शरीर की कान्ति बढ़ जाती है और निरोगता प्राप्त होती है ॥२४॥

यत्र–यत्र भवेत् स्थाने, जन्तो रोगः प्रपीडकः ।
तच्छान्त्यै धारयेत् तत्र प्राणादिमरुतः सदा ॥२५॥

अर्थ – जीव के शरीर में जिस जिस भाग में पीड़ा करने वाला रोग उत्पन्न हुआ हो, उसकी शान्ति के लिए उस स्थान में प्राणादि वायु को हमेशा रोके रखना चाहिए । ऐसा करने से रोग का नाश होता है ॥२५॥

एवं प्राणादि–विजये, कृताभ्यासः प्रतिक्षणम् ।
धारणादिकमभ्यस्येन्, मनःस्थैर्यकृते सदा ॥२६॥

अर्थ – इस प्रकार प्राणादिवायु को जीतने का बार–बार अभ्यास करके मन की स्थिरता के लिए हमेशा धारण आदि का अभ्यास करना चाहिए ॥२६॥

उक्तासन–समासीनो, रेचयित्वाऽनिलं शनैः ।
आपादाङ्गुष्ठपर्यन्तं, वाममार्गेण पूरयेत् ॥२७॥
पादाङ्गुष्ठे मनः पूर्वं रुद्ध्वा पादतले ततः ।
पार्ष्णौ गुल्फे च जङ्घायां, जानुन्यूरौ गुदे ततः ॥२८॥
लिङ्गे नाभौ च तुन्दे च हृत्कण्ठ–रसनेऽपि च ।
तालुनासाग्र नेत्रेषु च भ्रुवोर्भाले शिरस्यथ ॥२९॥
एवं रश्मिक्रमेणैव, धारयन्मरुता सह ।
स्थानात् स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुरं नयेत् ॥३०॥
ततः क्रमेण तेनैव, पादाङ्गुष्ठान्तमानयेत् ।
नाभिपद्मान्तरं नीत्वा, ततो वायुं विरेचयेत् ॥३१॥

अर्थ – पूर्वोक्त (चौथे प्रकाश के अन्त में बतलाये हुए) किसी भी आसन से बैठकर धीरे–धीरे पवन बाहर निकाल करके उसे नासिका के बाएँ छिद्र से अन्दर खींचे और पैर के अंगूठे तक ले जाकर उस मन को निरुद्ध करे। फिर मन को क्रमशः वायु के साथ पैर के तलवे कमें, एड़ी में, टखने में, जांघ में घुटने में, ऊरू में, गुदा में, लिंग में, नाभि में, पेट में, हृदय में, कण्ठ में, जीभ में, तालु में, नासिका के अग्रभाग में, भ्रकुटि में, कपाल में और मस्तक में इस तरह एक के बाद दूसरे स्थान में आगे बढ़ते बढ़ते

अन्त में ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त ले जाना चाहिए । उसके बाद उसी क्रम से वापिस लौटाते हुए अन्त में मन के साथे अंगूठे में वायु को लाकर फिर नाभिकमल में ले जाकर तब वायु का रेचन करना चाहिए ॥२७-३१॥

पादाङ्गुष्ठादौ जङ्घायां, जानूरु-गुद-मेहने ।
धारितः क्रमशो वायुः शीघ्रगत्यै बलाय च ॥३२॥
नाभौ ज्वरादिघाताय, जठरे कायशुद्धये ।
ज्ञानाय हृदये, कूर्मनाड्यां रोग-जराच्छिदे ॥३३॥
कण्ठे क्षुत्तर्षनाशाय, जिह्वाग्रे रससंविदे ।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे रूपज्ञानाय चक्षुषोः ॥३४॥
भाले तद्रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च ।
ब्रह्मरन्ध्रे च सिद्धानां, साक्षाद् दर्शनहेतवे ॥३५॥

अर्थ - पैर के अंगूठे में, एड़ी में, जंघा में, घुटने में, ऊरू में, गुदा में, लिंग में क्रमशः वायु को धारण करके रखने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है । नाभि में वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर में धारण करने से मलशुद्धि होने से शरीर शुद्ध हो जाता है, हृदय में धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, कूर्मनाड़ी में वायु धारण करने से रोग और वृद्धावस्था का नाश होता है, वृद्धावस्था में भी शरीर में युवक के समान स्फूर्ति रहती है। कण्ठ में वायु धारण करने से भूख-प्यास नहीं लगती और यदि क्षुधापिपासा लगी हो तो शान्त हो जाती है । जीभ के

अग्रभाग में वायु धारण करने से सर्व प्रकार का रसज्ञान होता है, नासिका के अग्रभाग में वायु को धारण करने से गन्ध का ज्ञान होता है और चक्षु में धारण करने से रूप ज्ञान होता है । कपाल-मस्तिष्क में वायु को धारण करने से मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों का नाश होता है तथा क्रोध का उपशमन होता है और ब्रह्मरन्ध्र में वायु को रोकने से साक्षात् सिद्धों के दर्शन होते हैं ॥३२-३५॥

अभ्यस्य धारणामेवं सिद्धीनां कारणं परम् ।
चेष्टितं पवमानस्य, जानीयाद् गतसंशयः ॥३६॥

अर्थ - धारणा सिद्धियों का परम कारण रूप है । उसका इस प्रकार अभ्यास करके निःशंक होकर पवन की चेष्टा को जानने का प्रयत्न करें ॥३६॥

नाभेर्निष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम् ।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विद्यात्स्थानं नभस्वतः ॥३७॥

अर्थ - नाभि से पवन का निकलना, 'चार' कहलाता है । हृदय के मध्य में ले जाने से 'गति' होती है और ब्रह्मरन्ध्र में रहना वायु का 'स्थान' समझना चाहिए ॥३७॥

तच्चार-गमन-स्थान-ज्ञानादभ्यासयोगतः ।
जानीयात् कालमायुश्च, शुभाशुभफलोदयम् ॥३८॥

अर्थ - उस वायु के चार, गमन और स्थान के ज्ञान का अभ्यास करने से काल (मरण), आयु-जीवन और शुभाशुभ फलोदय को जाना जा सकता है ॥३८॥

ततः शनैः समाकृष्य, पवनेन समं मनः ।
योगी हृदयपद्मान्तर्विनिवेश्य नियन्त्रयेत् ॥३९॥

अर्थ – उसके बाद योगी धीरे-धीरे पवन के साथ मन को खींचकर उसे हृदय-कमल के अन्दर प्रवेश कराके उसका निरोध करे ॥३९॥

ततोऽविद्या विलीयन्ते, विषयेच्छा विनश्यति ।
विकल्पा विनिवर्तन्ते, ज्ञानमन्तर्विजृम्भते ॥४०॥

अर्थ – हृदयकमल में मन को रोकने से अविद्या (अज्ञान या मिथ्यात्व) का विनाश हो जाता है, इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा भी नष्ट हो जाती है, संकल्प-विकल्प चले जाते हैं और आत्मा में ज्ञान की वृद्धि होती है ॥४०॥

क्व मण्डले गतिर्वायोः संक्रमः क्व क्व विश्रमः ? ।
का च नाडीति जानीयात्, तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥४१॥

अर्थ – हृदय-कमल में मन को स्थिर करने पर वायु की गति किस मण्डल में है ? उसका किस तत्त्व में संक्रम (प्रवेश) होता है ? वह कहाँ जाकर विश्राम पाता है ? और इस समय कौन-सी नाड़ी चल रही है ? यह जाना जा सकता है ? ॥४१॥

मण्डलानि च चत्वारि, नासिकाविवरे विदुः ।
भौमवारुणवायव्याग्नेयाख्यानि यथोत्तरम् ॥४२॥

अर्थ – नासिका के विवर में चार मण्डल होते हैं – १. भौम (पार्थिव) मण्डल, २. वारुण मण्डल, ३. वायव्य मण्डल और ४. आग्नेय मण्डल जानना ॥४२॥

पृथिवीबीजसम्पूर्णं, वज्रलाञ्छनसंयुतम् ।
चतुरस्त्रं तप्तस्वर्णप्रभं स्याद् भौममण्डलम् ॥४३॥

अर्थ – पार्थिव मंडल पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण, वज्र के चिह्न से युक्त, चौरस और तपाये हुए सोने के रंगवाला क्षितिलक्षणयुक्त होता है ॥४३॥

स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं, वारुणाक्षरलाञ्छितम् ।
चन्द्राभममृतस्यन्दं सान्द्रं वारुणमण्डलम् ॥४४॥

अर्थ – अष्टमी के अर्ध-चन्द्र के समान आकार, वाला, वारुण अक्षर 'घ' कार के चिह्न से युक्त, चन्द्रसदृश उज्ज्वल और अमृत के झरने से व्याप्त वारुणमण्डल होता है ॥४४॥

स्निग्धाञ्जनघनच्छायं, सुवृत्तं बिन्दुसङ्कुलम् ।
दुर्लक्ष्यं पवनाक्रान्तं, चञ्चलं वायुमण्डलम् ॥४५॥

अर्थ – स्निग्धमिश्रित अंजन और मेघ के समान गाढ़, श्याम कान्तिवाला, गोलाकार, बिन्दु के चिह्न से व्याप्त, मुश्किल से मालूम होने वाला, चारों ओर पवन से वेष्टित, पवनबीज 'य' कार से घिरा हुआ चंचल वायुमण्डल होता है ॥४५॥

ऊर्ध्वज्वालाञ्चितं भीमं, त्रिकोणं स्वस्तिकाऽन्वितम् ।
स्फुलिङ्गपिंङ्गं तद्बीजं, ज्ञेयमाग्नेयमण्डलम् ॥४६॥

अर्थ – ऊपर की ओर फैलती हुई ज्वालाओं से युक्त, भयानक त्रिकोण वाली, स्वस्तिक के चिह्न से युक्त, अग्नि की चिनगारी के समान पिंगलवर्ण वाला और अग्नि के बीज 'रेफ' से युक्त आग्नेय मण्डल जानना चाहिए ॥४६॥

अभ्यासेन स्वसंवेद्यं, स्यान्मण्डलचतुष्टयम् ।
क्रमेण सञ्चरन्नत्र, वायुर्ज्ञेयश्चतुर्विधः ॥४७॥

अर्थ – इस विषय का अभ्यास करने से अनुभव द्वारा चारों मण्डलों को जाना जा सकता है । इन चारों मण्डलों में संचार करने वाला वायु भी चार प्रकार का होता है ॥४७॥

नासिकारन्ध्रमापूर्य, पीतवर्णः शनैर्वहन् ।
कवोष्णोऽष्टाङ्गुलः स्वच्छो, भवेद् वायुः पुरन्दरः ॥४८॥

अर्थ – पृथ्वीतत्त्व का पुरन्दर नामक वायु पीले रंग का है, उसका स्पर्श कुछ उष्ण और कुछ शीत है । वह स्वच्छ है। धीरे-धीरे बहता हुआ नासिका के छिद्र को पूर्ण करके वह आठ अंगुल बहार तक बहता है ॥४८॥

धवलः शीतलोऽधस्तात्, त्वरितत्वरितं वहन् ।
द्वादशाङ्गुलमानश्च, वायुर्वरुण उच्यते ॥४९॥

अर्थ – जिसका सफेद वर्ण है, शीत स्पर्श है और नीचे की ओर बारह अंगुल तक जल्दी-जल्दी बहने वाला है, उसे जलतत्त्व का वरुण वायु कहते हैं ॥४९॥

उष्णः शीतश्च, कृष्णश्च, वहन् तिर्यगनारतम् ।
षडङ्गुलप्रमाणश्च वायुः पवनसञ्ज्ञितः ॥५०॥

अर्थ – पवन नाम का वायुतत्त्व कुछ उष्ण और कुछ शीत होता है, उसका वर्ण काला है और वह हमेशा छह अंगुल प्रमाण तिरछा बहता रहता है ॥५०॥

बालादित्यसमज्योतिरत्युष्णश्चतुरङ्गुलः ।
आवर्त्तवान् वहन्नूर्ध्वं, पवनो दहनः स्मृतः ॥५१॥

अर्थ – अग्नितत्त्व का दहन नामक वायु उदीयमान बालसूर्य के समान लाल वर्ण वाला है, अति-उष्णस्पर्श वाला है और बवंडर (घूमती हुई आंधी) की तरह चार अंगुल ऊँचा बहता है ॥५१॥

इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु, वरुणं शस्तकर्मसु ।
वायुं मलिनलोलेषु, वश्यादौ वह्निमादिशेत् ॥५२॥

अर्थ – जब पुरन्दरवायु बहता हो, तब स्तम्भनादि कार्य करने चाहिए । वरुणवायु के बहते समय प्रशस्त कार्य करना, पवनवायु के बहते समय मलिन और चपल कार्य करना तथा दहनवायु चलता हो, उस समय वशीकरण आदि कार्य करना चाहिए ॥५२॥

छत्र-चामर-हस्त्यश्वारामा-राज्यादिसम्पदम् ।
मनीषितं फलं वायुः, समाचष्टे पुरन्दरः ॥५३॥
रामाराज्यादिसम्पूर्णैः, पुत्रस्वजनबन्धुभिः ।
सारेण वस्तुना चापि, योजयेद् वरुणः क्षणात् ॥५४॥
कृषिसेवादिकं सर्वमपि सिद्धं विनश्यति ।
मृत्युभी कलहो वैरं, त्रासश्च पवने भवेत् ॥५५॥
भयं शोकं रुजं दुःखं, विघ्नव्यूहपरम्पराम् ।
संसूचयेद्विनाशं च, दहनो दहनात्मकः ॥५६॥

अर्थ – पुरन्दर नाम का वायु जिस समय बहता हो,

उस समय छत्र, चामर, हाथी, घोड़ा, स्त्री एवं राज्य आदि सम्पत्ति के विषय में कोई प्रश्न करे अथवा स्वयं कार्य आरम्भ करे तो मनोवांछित फल मिलता है । वरुणवायु (जलतत्त्व) बहता हो, तब प्रश्न करे अथवा कार्य आरम्भ करे तो उसी समय उसे सम्पूर्ण राज्य, पुत्र, स्वजन-बन्धु और सारभूत उत्तम वस्तु की प्राप्ति होती है । प्रश्न या कार्यारम्भ के समय पवन नाम का वायु बहता हो तो खेती सेवा-नौकरी आदि सब कार्य फलदायी हों तो भी वे निष्फल हो जाते हैं, मेहनत व्यर्थ नष्ट हो जाती है और मृत्यु का भय, क्लेश, वैर तथा त्रास उत्पन्न होता है । दहन स्वभाव वाला अग्नि नाम का वायु चलता हो, उस समय प्रश्न या कार्यारम्भ करे तो वह भय, शोक, रोग, दुःख और विघ्न-समूह की परम्परा और धन-धान्यादि के विनाश का संसूचक है ॥५३-५६॥

शशाङ्क-रवि-मार्गेण, वायवो मण्डलेष्वमी ।
विशन्तः शुभदाः सर्वे, निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृताः ॥५७॥

अर्थ - पुरन्दर आदि चारों प्रकार के वायु चन्द्रमार्ग या सूर्यमार्ग अर्थात् बांयी और दाहिनी नाड़ी में होकर प्रवेश करते हों, तो शुभदायक होते हैं और बाहर निकलते हों, तो अशुभदायक होते हैं ॥५७॥

प्रवेश-समये वायुर्जीवो मृत्युस्तु निर्गमे ।
उच्यते ज्ञानिभिस्तादृक्फलमप्यनयोस्ततः ॥५८॥

अर्थ - वायु जब मण्डल में प्रवेश करता है, तब उसे जीव कहते हैं और जब वह मण्डल से बाहर निकलता है, तब उसे मृत्यु कहते हैं । इसी कारण ज्ञानियों ने प्रवेश करते समय का फल शुभ और निकलते समय का फल अशुभ बताया । अर्थात्-पूरक वायु नासिका के अन्दर प्रवेश करता हो और कोई प्रश्न करे तो वह कार्य सिद्ध होगा और रेचक वायु मण्डल से बाहर निकलता हो और कोई प्रश्न करे तो वह कार्य सिद्ध नहीं होगा ॥५८॥

पथेन्दोरिन्द्रवरुणौ, विशन्तौ सर्वसिद्धिदौ ।
रविमार्गेण निर्यान्तौ, प्रविशन्तौ च मध्यमौ ॥५९॥
दक्षिणेन विनिर्यान्तौ, विनाशायानिलानलौ ।
निःसरन्तौ विशन्तौ च, मध्यमावितरेण तु ॥६०॥

अर्थ - चन्द्र अर्थात् बांयी नासिका से प्रवेश करते हुए पुरन्दर और वरुण वायु सर्वसिद्धियाँ प्रदान करते हैं, पवन ओर दटनवायु बायी नासिका से प्रवेश करते ओर निकलते मध्यम फल देते हैं । सूर्य अर्थात् दाहिनी नाड़ी से बाहर निकलते और प्रवेश करते हुए ये दोनों वायु मध्यमफल देते हैं ॥५९-६०॥

इडा च पिङ्गला चैव, सुषुम्णा चेति नाडिकाः ।
शशि-सूर्य-शिवस्थानं, वाम-दक्षिण-मध्यगाः ॥६१॥

अर्थ - बांयी ओर की नाड़ी इड़ा कहलाती है और उसमें चन्द्र का स्थान है, दाहिनी ओर की नाड़ी पिंगला है, उसमें सूर्य का स्थान है और दोनों के मध्य में स्थित नाड़ी

सुषुम्णा है, इसमें मोक्ष-स्थान माना है ॥६१॥

पीयूषमिव वर्षन्ती, सर्वगात्रेषु सर्वदा ।
वामाऽमृतमयी नाडी सम्मताऽभीष्टसूचिका ॥६२॥
वहन्त्यनिष्टशंसित्री, संहर्त्री दक्षिणा पुनः ।
सुषुम्णा तु भवेत् सिद्धि-निर्वाणफलकारणम् ॥६३॥

अर्थ - शरीर के समस्त भागों में निरन्तर अमृत वर्षा करने वाली और सभी मनोरथों को सूचित करने वाली बांयी नाड़ी मानी गयी है तथा दाहिनी नाड़ी अनिष्ट को सूचित करने वाली और कार्य का विघात करने वाली होती है एवं सुषुम्णा नाड़ी अणिमादि अष्ट महासिद्धियों का और मोक्षफल का कारण रूप होती है ॥६२-६३॥

वामैवाभ्युदयादीष्टशस्तकार्येषु सम्मता ।
दक्षिणा तु रताहार-युद्धादौ दीप्तकर्मणि ॥६४॥

अर्थ - यात्रा, दान, विवाह, नवीन वस्त्राभूषण धारण करते समय, गाँव, नगर व घर में प्रवेश करते समय, स्वजन-मिलन, शांतिकर्म, पौष्टिक कर्म, योगाभ्यास, राजदर्शन, चिकित्सा, मैत्री, बीज-वपन इत्यादि अभ्युदय और ईष्टकार्यों के प्रारम्भ में बांयी नाड़ी शुभ होती है और भोजन, विग्रह, विषय-प्रसंग, युद्ध, मन्त्र-साधना, दीक्षा, सेवाकर्म, व्यापार, औषध, भूतप्रेतादि-साधनों आदि तथा अन्य रौद्र कार्यों में सूर्यनाड़ी=दाहिनी नाड़ी शुभ मानी गयी है ॥६४॥

वामा शस्तोदये पक्षे, सिते कृष्णे तु दक्षिणा ।
त्रीणि त्रीणि दिनानीन्दु-सूर्ययोरुदयः शुभः ॥६५॥

अर्थ - शुक्लपक्ष में सूर्योदय के समय बांयी नाड़ी का उदय श्रेष्ठ माना गया है और कृष्णपक्ष में सूर्योदय के समय दाहिनी नाड़ी का उदय शुभ माना गया है। इन दोनों नाड़ियों का उदय तीन दिन तक शुभ माना जाता है ॥६५॥

शशाङ्केनोदयो वायोः सूर्येणास्तं शुभावहम् ।
उदये रविणा त्वस्य, शशिनाऽस्तं शिवमतम् ॥६६॥

अर्थ - जिस दिन सूर्योदय के समय वायु का उदय चन्द्रस्वर में हुआ हो और सूर्य स्वर में अस्त होता हो तो वह दिन शुभ है। यदि उस दिन सूर्यस्वर में उदय और चन्द्रस्वर में अस्त हो, तब भी कल्याणकारी माना जाता है ॥६६॥

सितपक्षे दिनारम्भे, यत्नतः प्रतिपद्दिने ।
वायोर्वीक्षेत सञ्चारं, प्रशस्तमितरं तथा ॥६७॥
उदेति पवनः पूर्वं, शशिन्येष त्र्यहं ततः ।
सङ्क्रामति त्र्यहं सूर्ये, शशिन्येव पुनस्त्र्यहम् ॥६८॥
वहेद् यावद् बृहत्पूर्वक्रमेणानेन मारुतः ।
कृष्णपक्षे पुनः सूर्योदयपूर्वमयं क्रमः ॥६९॥

अर्थ - शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के प्रारम्भ में वायु के संचार को यत्नपूर्वक देख लेना चाहिए कि वह प्रशस्त है या अप्रशस्त ? प्रथम तीन दिन (१, २, ३ के दिन) सूर्योदय के समय चन्द्रनाड़ी चलती है। उसके

बाद ४, ५, ६ तीन दिन सूर्योदय के समय सूर्य नाड़ी बहती है, तदनन्तर फिर ७-८-९ के दिन चन्द्रनाड़ी, १०, ११, १२ के दिन सूर्यनाड़ी और १३, १४, १५ के दिन चन्द्रनाड़ी में पवन बहता है और कृष्णपक्ष में प्रथम तीन दिन (१, २, ३) सूर्यनाड़ी, फिर ४, ५, ६ के दिन चन्द्रनाड़ी, में इसी क्रम से तीन तीन दिन के क्रम से अमावस्या तक बहेगा । वायु का यह क्रम सारे दिन के लिए नहीं है परन्तु केवल सूर्य-उदय के समय के लिए है । उसके बाद ढाई ढाई घण्टे में चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी बदलती रहती है । इस नियम में रोद्दबदल होने पर उसका फल अशुभ या दुःखफलसूचक है ॥६७-६९॥

त्रीन् पक्षानन्यथात्वेऽस्य, मासषट्केन पञ्चता ।
पक्षद्वयं विपर्यासेऽभीष्ट-बन्धुविपद् भवेत् ॥७०॥
भवेत् तु दारुणा, व्याधिरेकपक्षं विपर्यये ।
द्वित्र्याद्यहं विपर्यासे, कलहादिकमुद्दिशेत् ॥७१॥

अर्थ - पूर्वकथित चन्द्र या सूर्यनाड़ी के क्रम से विपर्यास-विपरीत तीन पक्ष तक पवन बहता हो तो छह महीने में मृत्यु हो जाती है । यदि दो पक्ष तक विपरीत क्रम होता रहे तो स्नेही-बंधु पर विपत्ति आती है, एक पक्ष तक विपरीत पवन चले तो भयंकर व्याधि उत्पन्न होती है और यदि दो-तीन-दिन विपरीत वायु चले तो कलह आदि अनिष्ट फल खड़ा है ॥७०-७१॥

एकं द्वे त्रीण्यहोरात्राण्यर्क एव मरुद् वहन् ।
वर्षैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनान्तायेन्दौ रुजे पुनः ॥७२॥

अर्थ - यदि पूरे दिन-रात भर सूर्यनाड़ी में ही पवन चलता रहे तो तीन वर्ष में मृत्यु होती है, इसी तरह दो-दिन-रात तक वायु चले तो दो वर्ष में मृत्यु होती है और तीन दिन-रात चलता रहे तो एक वर्ष में मृत्यु हो जाती है। और यदि चन्द्रनाड़ी उतने दिन चलती रहे तो रोग उत्पन्न होता है ॥७२॥

मासमेकं रवावेव, वहन् वायुर्विनिर्दिशेत् ।
अहोरात्रावधिर्मृत्युं शशाङ्के तु धनक्षयम् ॥७३॥

अर्थ - यदि किसी मनुष्य के एक महीने तक लगातार सूर्यनाड़ी में ही वायु चलता रहे तो उसकी एक दिनरात में ही मृत्यु हो जाती है, यदि एक मास तक चन्द्रनाड़ी में पवन चलता रहे तो उसके धन का नाश होता है ॥७३॥

वायुस्त्रिमार्गगः शंसेत् मध्याह्नात् परतो मृतिम् ।
दशाहं तु द्विमार्गस्थः सङ्क्रान्तौ मरणं दिशेत् ॥७४॥

अर्थ - इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा इन तीनों नाड़ियों में यदि एक साथ पवन चलता रहे तो दो प्रहर के पश्चात् मरण होता है । इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों में साथ में वायु चले तो दस दिन में मृत्यु होती है और केवल सुषुम्णा में ही लम्बे समय तक वायु चले तो शीघ्र मरण होता है ॥७४॥

दशाहं तु वहन्निन्दावेवोद्वेगरुजे मरुत् ।
इतश्चेतश्च यामार्धं, वहन् लाभार्चनादिकृत् ॥७५॥

अर्थ – यदि निरन्तर दस दिन तक चन्द्रनाड़ी में ही पवन चलता रहे तो उद्वेग और रोग उत्पन्न होता है और सूर्य तथा चन्द्रनाड़ी में वायु बार-बार बदलता रहे अर्थात् आधे प्रहर सूर्यनाड़ी में और आधे प्रहर चन्द्रनाड़ी में वायु चलता रहे तो लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है ॥७५॥

विषुवत्समयप्राप्तौ स्पन्देते यस्य चक्षुषी ।
अहोरात्रेण जानीयात्, तस्य नाशमसंशयम् ॥७६॥

अर्थ – जब दिन रात समान हो, बारह-बारह घण्टे का दिन-रात समान हो, जरा भी कम ज्यादा न हो उसे विषुवत् काल कहते हैं, ऐसे दिन वर्ष में दो ही आते हैं। ऐसे विषुवत् काल में जिसकी आंखे फरकती है, उसकी एक दिन रात में अवश्य ही मृत्यु हो जाती है, फरकना भी वायु का विकार है, इसलिए प्रस्तुत प्रसंग का भंग नहीं होता ॥७६॥

पञ्चातिक्रम्य सङ्क्रान्तीर्मुखे वायुर्वहन् दिशेत् ।
मित्रार्थहानी निस्तेजोऽनर्थान् सर्वान्मृतिं विना ॥७७॥

अर्थ – पवन का एक नाड़ी में से दूसरी नाड़ी में जाना 'संक्रांति' कहलाता है । दिन में लगातार यदि ऐसी पाँच संक्रांतियाँ बीत जाने के बाद छट्ठी संक्रांति के समय मुख से वायु चले तो वह मृत्यु को छोड़कर मित्र-हानि, धन-हानि, निस्तेज होना, उद्वेग, रोग, देशान्तर-गमन आदि सभी अनर्थ सूचित करता है ॥७७॥

सङ्क्रान्तीः समतिक्रम्य, त्रयोदश समीरणः ।
प्रवहन् वामनासायां, रोगोद्वेगादि सूचयेत् ॥७८॥

अर्थ – यदि पहले कहे अनुसार तेरह संक्रान्तियों तक उल्लंघन हो जाने पर वायु वाम नासिका से बहे तो वह रोग, उद्वेग आदि की उत्पत्ति को सूचित करता है ॥७८॥

मार्गशीर्षस्य सङ्क्रान्ति-कालादारभ्य मारुतः ।
वहन् पञ्चाहमाचष्टे वत्सरेऽष्टादशे मृतिम् ॥७९॥

अर्थ – मार्गशीर्ष मास के प्रथम दिन से लेकर लगातार पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो उस दिन से अठारहवें वर्ष में मृत्यु होगी ॥७९॥

शरत्सङ्क्रान्तिकालाच्च, पञ्चाहं मारुतो वहन् ।
ततः पञ्चदसाब्दानाम् अन्ते मरणमादिशेत् ॥८०॥

अर्थ – यदि शरद्ऋतु की संक्रांति से अर्थात् आसो मास के प्रारम्भ से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो उस दिन से पंद्रहवें वर्ष के अन्त में उसकी मृत्यु होगी ॥८०॥

श्रावणादेः समारभ्य, पञ्चाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणां, मरणं परिसूचयेत् ॥८१॥
वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्, दशाहानि समीरणः ।
दिशेन्नवमवर्षस्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ॥८२॥
आरभ्य चैत्राद्यादिनात्, पञ्चाहं पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य, मृत्युं नियतमादिशेत् ॥८३॥

आरभ्य माघामासादेः, पञ्चाहानि मरुद् वहन् ।
संवत्सरत्रयस्यान्ते, संसूचयति पञ्चताम् ॥८४॥

अर्थ – श्रावण महीने के प्रारम्भ से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चले तो वह बारहवें वर्ष में मरण का सूचक है । ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो नौ वर्ष के अन्त में निश्चय ही उसकी मृत्यु होनी चाहिए । चैत्र महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो छह वर्ष के अन्त में अवश्य मरण होगा । माघ महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो तीन वर्ष के अन्त में मरण होने का सूचित करता है ॥८१-८४॥

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो, वायुश्चेद् दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागैस्तु ते शोध्याः, यथावदनुपूर्वशः ॥८५॥

किसी महीने में पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चले तो उतने ही वर्षों में मरण बतलाया है, उस महीने में दो तीन या चार दिन तक यदि एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो उस वर्ष के उतने ही विभाग करके दिनों के अनुसार वर्ष के उतने ही विभाग कम कर देने चाहिए. जैसे कि मार्गशीर्ष महीने के प्रारम्भ में पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चले तो अठारह वर्षों में मरण कहा है, यदि उस मास में पाँच के बदले चार दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो अठारह वर्ष के पाँचवें भाग के अर्थात् तीन

वर्ष सात महीने और छह दिन के कम करने पर चौदह वर्ष चार मास और चौवीस दिन में मृत्यु होना फलित होता है । इसी प्रकार तीन, दो दिन वायु चलता रहे इसी हिसाब से समझ लेना और शरद् आदि के महीने में भी यही नियम समझना चाहिए ॥८५॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि, कञ्चित् कालस्य निर्णयम् ।
सूर्यमार्गं समाश्रित्य, स च पौष्णेऽवगम्यते ॥८६॥

अर्थ – अब मैं कुछ कालज्ञान का निर्णय बताऊंगा, वह काल-ज्ञान सूर्यमार्ग को आश्रित करके पौष्णकाल में जाना जाता है ॥८६॥

जन्मऋक्षगते चन्द्रे, समसप्तगते रवौ ।
पौष्णनामा भवेत् कालो, मृत्यु-निर्णय-कारणम् ॥८७॥

अर्थ – जन्म नक्षत्र में चन्द्रमा हो और अपनी राशि से सातवीं राशि में सूर्य हो तथा चन्द्रमा ने जितनी जन्म-राशि भोगी हो, उतनी ही सूर्य ने सातवीं राशि भोगी हो, तब 'पौष्ण' नामक काल कहलाता है । इस पौष्णकाल में मृत्यु का निर्णय किया जा सकता है ॥८७॥

दिनार्धं दिनमेकं च, यदा सूर्ये मरुद् वहन् ।
चतुर्दशे द्वादशेऽब्दे, मृत्यवे भवति क्रमात् ॥८८॥

अर्थ – पौष्णकाल में यदि आधे दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो चौदहवें वर्ष में मृत्यु होगी, यदि पूरे दिन पवन चले तो बाहरवें वर्ष में मृत्यु होती है ॥८८॥

तथैव च वहन् वायुः अहोरात्रं द्वयहं त्र्यहम् ।
दशमाष्टमषष्ठाब्देस्वन्ताय भवति क्रमात् ॥८९॥

अर्थ – उसी तरह पौष्णकाल में एक अहोरात्रि, दो या तीन दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो क्रमशः दसवें, वर्ष, आठवें वर्ष और छट्ठे वर्ष मृत्यु होती है ॥८९॥

वहन् दिनानि चत्वारि, तुर्येऽब्दे मृत्यवे मरुत् ।
साशीत्यहःसहस्त्रे तु पञ्चाहानि वहन् पुनः ॥९०॥

अर्थ – उसी प्रकार से पौष्णकाल में चार दिन तक सूर्यनाड़ी में वायु चलता रहे तो चौथे वर्ष में और पाँच दिन तक चलता रहे तो तीन वर्ष में अर्थात् एक हजार अस्सी दिन में मृत्यु होती है ॥९०॥

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-चतुर्विशत्यहःक्षयात् ।
षडादीन् दिवसान् पञ्च शोधयेदिह तद्यथा ॥९१॥

अर्थ – सूर्यनाड़ी में लगातार छह, सात, आठ, नौ या दस दिन तक उसी तरह वायु चलता रहे तो वह १०८० दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच चौवीसी दिन कम तक जीवित रहता है ॥९१॥

षट्कं दिनानामध्यर्कं, वहमाने समीरणे ।
जीवत्यह्नां सहस्त्रं षट्-पञ्चाशद्दिवसाधिकम् ॥९२॥

अर्थ – यदि सूर्यनाड़ी में छह दिन तक पवन चलता रहे तो वह एक चौवीसी कम १०८०-२४=१०५६ दिन तक जीवित रहता है ॥९२॥

सहस्त्र साष्टकं जीवेद्, वायौ सप्ताहवाहिनि ।
सषट्त्रिंशन्नवशतीं, जीवेदष्टाहवाहिनि ॥९३॥

अर्थ – सात दिन तक लगातार वायु सूर्यनाड़ी में चलता रहे तो वह १०५६ दिन में दो चौवीसी कम १०५६-४८ = १००८ दिन तक जीवित रहता है। तथा आठ दिन तक लगातार सूर्यनाड़ी चले तो ९३६ दिन जीवित रहता है ॥९३॥

एकत्रैव नवाहानि, तथा वहति मारुते ।
अह्नामष्टशतं जीवेच्चत्वारिंशद्दिनाधिकम् ॥९४॥

अर्थ – उसी तरह यदि नौ दिन सतत वायु चलता रहे तो ९३६ दिनों में चार चौवीसी अर्थात् ९३६-९६=८६० दिन जीवित रहता है ॥९४॥

तथैव वायौ प्रवहत्येकत्र दश वासरान् ।
विंशत्यभ्यधिकामह्नां, जीवेत्पप्तशतीं ध्रुवम् ॥९५॥

अर्थ – उसी तरह पौष्णकाल में निरन्तर दस दिन तक सूर्यनाड़ी में वायु चले तो पूर्वोक्त ८४० दिनों में से पाँच चौवीसी कम अर्थात् ८४०-१२०=७२०दिन तक ही जीवित रहता है॥९५॥

एक-द्वि-त्रि-चतु :-पञ्च-चतुर्विशत्यहक्षयात् ।
एकादशादिपञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद् यथा ॥९६॥

अर्थ – यदि ग्यारह दिन से लेकर पंद्रह दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो सातसौ बीस दिन में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच चौवीसी दिन कम करते जाना ॥९६॥

एकादशदिनान्यर्कनाड्या वहति मारुते ।
षण्णवत्याधिकान्यह्नां, षट्शतान्येव जीवति ॥९७॥

अर्थ – पौष्णकाल में सूर्यनाड़ी में ग्यारह दिनों तक वायु चलता रहे तो ७२० दिनों में से एक चौवीसी कम अर्थात् ७२०-२४= ६९६ दिन तक मनुष्य जीवित रहता है ॥९७॥

तथैव द्वादशाहानि वायौ वहति जीवति ।
दिनानां षट्शतीमष्टचत्वारिंशित्समन्विताम् ॥९८॥

अर्थ – उसी तरह बारह दिन तक वायु सूर्यनाड़ी में चलता रहे तो वह दो चौवीसी कम अर्थात् ६९६-४८= ६४८ दिन तक जीवित रहता है ॥९८॥

त्रयोदशदिनान्यर्कनाडीचारिणि मारुते ।
जीवेत्पञ्चशतीमह्नां, षट्सप्ततिदिनाधिकाम् ॥९९॥

अर्थ – उसी तरह तेरह दिन तक सूर्यनाड़ी में लगातार पवन चले तो ६४८ दिनों में से तीन चौवीसी कम अर्थात् ६४८-७२= ५७६ दिन तक वह जीवित रहता है ॥९९॥

चतुर्दशदिनान्येव, प्रवाहिणि समीरणे ।
अशीत्यभ्यधिकं जीवेद्अह्नां शतचतुष्टयम् ॥१००॥

अर्थ – उसी प्रकार चौदह दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो ५७६ दिनों में से चार चौवीसी कम अर्थात् ५७६-९६= ४८० दिनों तक वह जीवित रहता है ॥१००॥

तथा पञ्चदशाहानि, यावद् वहति मारुते ।
जीवेत्षष्टिदिनोपेतं, दिवसानां शतत्रयम् ॥१०१॥

अर्थ – उसी तरह पंद्रह दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो ४८० दिनों में से पाँच चौवीसी कम अर्थात् ४८०-१२०= ३६० दिन जीवित रहता है ॥१०१॥

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-द्वादशाहक्रमक्षयात् ।
षोडशाद्यानि पञ्चाहान्यत्र शोधयानि तद् यथा ॥१०२॥

अर्थ – सोलह, सत्रह, अठार, उन्नीस और बीस दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे पाँच बारह दिन कम कर देने पर उतने दिन तक जीवित रहता है ॥१०२॥

प्रवहत्येकनासायां, षोडशाहानि मारुते ।
जीवेत्सहाष्टचत्वारिंशतं दिनशतत्रयीम् ॥१०३॥

अर्थ – लगातार सोलह दिन तक पिंगला या किसी एक नासिका में पवन चलता रहे तो ३६० दिनों में से एक बारह कम अर्थात् ३६०-१२= ३४८ दिन तक वह जीवित रहता है ॥१०३॥

वहमाने तया सप्तदशाहानि समीरणे ।
अह्नां शतत्रये मृत्युश्चतुर्विंशतिसञ्युते ॥१०४॥

अर्थ – उसी तरह १७ दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो ३४८ दिनों में दो बारह=२४ कम ३४८-२४= ३२४ दिन में मृत्यु होती है ॥१०४॥

पवने विचरत्यष्टादशाहानि तथैव च ।
नाशोऽष्टाशीतिसंयुक्ते, गते दिनशतद्वये ॥१०५॥

अर्थ – इसी प्रकार अठारह दिन तक पवन चलता रहे

तो ३२४ दिनों में से तीन बारह ३६ कम ३२४-३६ = २८८ दिन में मत्यु होती है ॥१०५॥

विचरत्यनिले तद्वद् दिनान्येकोनविंशतिम् ।
चत्वारिंशद्युते याते, मृत्युर्दिनशतद्वये ॥१०६॥

अर्थ - पूर्ववत् उन्नीस दिन वायु चलता रहे तो २८८ दिनों में से चार बारह=४८ कम अर्थात् २८८-४८=२४० दिन में उसकी मृत्यु होती है ॥१०६॥

विंशति-दिवसानेकनासाचारिणि मारुते ।
साशीतौ वासरशते, गते मृत्युर्न संशयः ॥१०७॥

अर्थ - यदि बीस दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो २४० दिनों में से पाँच बारह=६० कम अर्थात् २४०-६०= १८० दिन में निश्चित रूप से मृत्यु होती है ॥१०७॥

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-दिन-षट्क-क्रमक्षयात् ।
एकविंशादिपञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥१०८॥

अर्थ - इक्कीस से लेकर पच्चीस दिन तक सूर्यनाड़ी में ही पवन बहता रहे तो पूर्वोक्त १८० दिनों में ही से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच षट्क कम करते जाना चाहिए ॥१०८॥

एकविंशत्यहं त्वर्कनाडीवाहिनि मारुते ।
चतुःसप्ततिसंयुक्ते, मृत्युर्दिनशते भवेत् ॥१०९॥

अर्थ - पूर्वोक्त पौष्णकाल में यदि इक्कीस दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो १८० दिनों में से एक षट्क

कम यानी १८०-६= १७४ दिन में उसकी मृत्यु होती है ।

द्वाविंशतिदिनान्येवं, स द्विषष्ठावहःशते ।
षड्दिनोनैः पञ्चमासैस्त्रयोविंशत्यहानुगे ॥११०॥

अर्थ - इसी प्रकार बाईस दिन तक पूर्ववत् पवन चले तो १७४ दिनों में से दो षट्क = १२ दिन कम यानी १६२ दिन तक जीवित रहेगा और तेईस दिन तक उसी प्रकार पवन चले तो १६२ दिनों में से तीन षट्क अर्थात् अठारह दिन कम करने से छह दिन कम पाँच महिने में अर्थात् १६२-१८= १४४ दिनों में मृत्यु होती है ॥११०॥

तथैव वायौ वहति, चतुर्विंशतिवासरीम् ।
विंशत्यभ्यधिके मृत्युर्भवेद् दिनशते गते ॥१११॥

अर्थ - यदि चौबीस दिन तक वायु एक ही नाड़ी में बहता रहे तो १४४ दिनों में से चार षट्क कम अर्थात् १४४-२४=१२० दिन बीतने पर मृत्यु हो जाती है ॥१११॥

पञ्चविंशत्यहं चैवं, वायौ मासत्रये मृतिः ।
मासद्वये पुनर्मृत्युः, षड्विंशतिदिनानुगे ॥११२॥

अर्थ - पच्चीस दिन तक वायु चलता रहे तो १२० दिनों में से पाँच षटक् = ३० दिन कम = ९० दिन-(तीन महिने) में और छब्बीस दिन तक वायु चलता रहे तो दो महीने में मृत्यु होती है ॥११२॥

सप्तविंशत्यह वहेत् नाशो मासेन जायते ।
मासार्धेन पुनर्मृत्युरष्टाविंशत्यहानुगे ॥११३॥

अर्थ – इसी तरह सत्ताईस दिन तक वायु चलता रहे तो एक महिने में और अठाईस दिन तक चलता रहे तो पंद्रह दिन में ही मृत्यु होती है ॥११३॥

एकोनत्रिंशदहगे, मृतिः स्याद्दशमेऽहनि ।
त्रिशद्दिनचरे तु स्यात्, पञ्चत्वं पञ्चमे दिने ॥११४॥

अर्थ – यदि उनतीन दिन तक एक ही नाडी में वायु चलता रहे तो दस दिन में और तीस दिन तक चलता रहे तो पाँचवें दिन मृत्यु होती है ॥११४॥

एकत्रिंशदहचरे, वायौ मृत्युर्दिनत्रये ।
द्वितीयदिवसे नाशो, द्वात्रिंशदहवाहिनि ॥११५॥

अर्थ – इसी प्रकार इकत्तीस दिन तक वायु चले तो तीन दिन में और बत्तीस दिन तक चले तो दो दिन में मृत्यु होती है ॥११५॥

त्रयस्त्रिंशदहचरे, त्वेकाहेनापि पञ्चता ।
एवं यदीन्दुनाड्यां स्यात्तदा व्याध्यादिकं दिशेत् ॥११६॥

अर्थ – इसी प्रकार तैतीस दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो एक हि दिन में मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार यदि चन्द्रनाड़ी में पवन चलता रहे तो उसका फल मृत्यु नहीं है, परन्तु उतने ही काल में व्याधि, मित्रनाश, महान् भय, स्वदेश का त्याग, धनपुत्रादि का नाश, राज्य का विनाश, दुष्काल आदि होता है ॥११६॥

अध्यात्मं वायुमाश्रित्य, प्रत्येकं सूर्यसोमयोः ।
एवमभ्यासयोगेन, जानीयात्, कालनिर्णयम् ॥११७॥

अर्थ – इस प्रकार शरीर के अन्दर रहे हुए वायु के आश्रित सूर्य और चन्द्रनाड़ी का अभ्यास करके काल का निर्णय जानना चाहिए ॥११७॥

आध्यात्मिकविपर्यासः सम्भवेद् व्याधितोऽपि हि ।
तन्निश्चयाय बध्नामि, बाह्यं कालस्य लक्षणम् ॥११८॥

अर्थ – किसी समय व्याधि-(रोग) उत्पन्न होने के कारण भी शरीर-सम्बन्धी वायु (उलट-पुलट-विपरीत) हो जाता है । इसलिए काल-ज्ञान का निश्चय करने के लिए काल के बाह्य लक्षणों का वर्णन किया जाता है ॥११८॥

नेत्र-श्रोत्र-शिरोभेदात्, स च त्रिविधलक्षणः ।
निरीक्ष्यः सूर्यमाश्रित्य, यथेष्टमपरः पुनः ॥११९॥

अर्थ – नेत्र, कान और मस्तक के भेद से काल तीन प्रकार का माना गया है । यह सूर्य की अपेक्षा से बाह्यकाल का लक्षण है और इससे अतिरिक्त बाह्यलक्षण अपनी इच्छा से देखे जाते हैं ॥११९॥

वामे तत्रेक्षणे पद्मं, षोडशच्छदमैन्दवम् ।
जानीयाद् भानवीयं तु, दक्षिणे द्वादशच्छदम् ॥१२०॥

अर्थ – बाएँ नेत्र में सोलह पंखुड़ी वाला चन्द्रविकासी कमल है और दाहिने नेत्र में बारह पंखुड़ी वाला सूर्यविकासी कमल है। ऐसा सर्वप्रथम परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥१२०॥

खद्योतद्युतिवर्णानि, चत्वारिच्छदनानि तु ।
प्रत्येकं तत्र दृश्यानि, स्वाङ्गुलीविनिपीडनात् ॥१२१॥

अर्थ - गुरु के उपदेश के अनुसार अपनी अंगुली से आंख के विशिष्ट भाग को दबाने पर उसमें प्रत्येक कमल की चार पंखुड़ियाँ जुगुनू की तरह चमकती हुई दिखाई देती है ॥१२१॥

सोमाधो भ्रूलताऽपाङ्ग-घ्राणान्तिकदलेषु तु ।
दले नष्टे क्रमान्मृत्युः षट्-त्रि-युग्मैकमासतः ॥१२२॥

अर्थ - चन्द्र-सम्बन्धी कमल में नीचे की चार पंखुड़ियाँ दिखायी न दे तो छह महिने में मृत्यु होती है, भ्रूकुटि के समीप की पंखुड़ी दिखायी न दे तो तीन महिने में, आंख के कोने की पंखुड़ी न दिखायी दे तो दो महीने में और नाक के पास की पंखुड़ी दिखायी नहीं दे तो एक महिने में मृत्यु होती है ॥१२२॥

अयमेव क्रमः पद्मे, भानवीये यदा भवेत् ।
दश-पञ्च-त्रि-द्विदिनैः, क्रमान्मृत्युस्तदा भवेत् ॥१२३॥

अर्थ - इसी क्रमानुसार सूर्यसम्बन्धी कमल की पंखुडियां दिखाई नहीं देने पर क्रमशः दस, पाँच, तीन और दो दिन में मृत्यु होती है ॥१२३॥

एतान्यपीड्यमानानि, द्वयोरपि हि पद्मयोः ।
दलानि यदि वीक्षेत मृत्युर्दिनशतात् तदा ॥१२४॥

अर्थ - यदि आंख को अंगुली से दबाये बिना दोनों

कमलों की पंखुड़ियाँ दिखायी दे तो सौ दिनों में मृत्यु होती है ॥१२४॥

ध्यात्वा हृद्यष्टपत्राब्जं श्रोत्रे हस्ताग्र-पीडिते ।
न श्रूयेताग्निनिर्घोषो, यदि स्वः पञ्चवासरान् ॥१२५॥
दस वा पञ्चदश वा, विंशतिं पञ्चविंशतिम् ।
तदा पञ्च-चतुस्त्रिद्वयेकवर्षे मरणं क्रमात् ॥१२६॥

अर्थ - हृदय में आठ पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करके दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियाँ को दोनों कानों में डालने पर यदि अपना अग्नि-निर्घोष (शब्द) पाँच दिन तक सुनायी न दे तो पाँच वर्ष, दस दिन तक सुनायी न दे तो चार वर्ष, पन्द्रह दिन तक सुनायी न दे तो तीन वर्ष, वीस दिन तक सुनायी न दे तो दो वर्ष और पच्चीस दिन तक नहीं सुनायी दे तो एक वर्ष में मृत्यु होती है ॥१२५-१२६॥

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-चतुर्विंसत्यहःक्षयात् ।
षडादि षोडशदिनान्यान्तराण्यपि शोधयेत् ॥१२७॥

अर्थ - यदि छह दिन से लेकर सोलह दिन तक अंगुली से दबाने पर भी कान में अग्नि का शब्द न सुनायी दे तो पाँच वर्ष के दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार आदि सोलह चौवीसियाँ कम करते हुए मृत्यु होती है। वह इस प्रकार-पाँच दिन तक कान में शब्द सुनायी न दे तो पाँच वर्ष में मृत्यु होती है, यह बात पहले कह गये हैं।

उसके बाद छह दिन तक अग्नि का शब्द सुनायी न दे तो पाँच वर्ष में २४ दिन कम करना अर्थात् १८०० दिनों में से २४ दिन कम यानी १७७६ दिनों में मृत्यु होती है । सात दिन तक सुनायी न देने पर १७७६ दिनों मे से दो चौवीस अर्थात् ४८ दिन कम करने से १७२८ दिन में मृत्यु होती है। इसी तरह ग्यारह दिन से सोलह दिन और इक्कीस दिन तक उपर्युक्त चौवीसी कम करके मरणकाल का निश्चय करना चाहिए ।

ब्रह्मद्वारे प्रसर्पन्तीं, पञ्चाहं धूममालिकाम् ।
न चेत् पश्येत् तदा ज्ञेयो, मृत्युः संवत्सरैस्त्रिभिः ॥१२८॥

अर्थ – ब्रह्मरन्ध्र में फैलती हुई (गुरु महाराज के उपदेश से दर्शनीय) धूमरेखा यदि पाँच दिन तक दृष्टिगोचर न हो तो तीन वर्ष में मृत्यु होती है ॥१२८॥

प्रतिपद्दिवसे काल-चक्रज्ञानाय शौचवान् ।
आत्मनो दक्षिणं पाणिं शुक्लपक्षं प्रकल्पयेत् ॥१२९॥

अर्थ – शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन पवित्र होकर कालचक्र को जानने के लिए अपने दाहिने हाथ की शुक्लपक्ष के रूप में कल्पना करनी चाहिए ॥१२९॥

अधोमध्योर्ध्वपर्वाणि, कनिष्ठाङ्गुलिगानि तु ।
क्रमेण प्रतिपत्षष्ठ्येकादशीः कल्पयेत् तिथीः ॥१३०॥

अवशेषाङ्गुली-पर्वाण्यवशेष-तिथीस्तथा ।
पञ्चमी-दशमी-राकाः, पर्वाण्यङ्गुष्ठगानि तु ॥१३१॥

अर्थ – अपनी कनिष्ठा अंगुली के नीचे के पौर में प्रतिपदा, मध्यम पौर में षष्ठी तिथि और ऊपर के पौर में एकादशी तिथि की कल्पना करे। अंगूठे के निचले, मध्य के और ऊपर के पौर में पंचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करनी चाहिए । अनामिका अंगुली के तीनों पौरों में दूज, तीज और चौथ की, मध्यमा के तीनों पौरों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीनों पौरों में द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करनी चाहिए ॥१३०-१३१॥

वामपाणिं कृष्णपक्षं, तिथीस्तद्वच्च कल्पयेत् ।
ततश्च निर्जने देशे, बद्धपद्मासनः सुधी ॥१३२॥
प्रसन्नः सितसंव्यानः, कोशीकृत्य करद्वयम् ।
ततस्तदन्तःशून्यं तु, कृष्णं वर्णं विचिन्तयेत् ॥१३३॥

अर्थ – कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन बाएँ हाथ में दाहिने हाथ के समान कृष्ण पक्ष की तिथियों की कल्पना करे, उसके बाद बुद्धिशाली मनुष्य साधक निर्जन में जाकर पद्मासन लगाकर बैठे और प्रसन्नतापूर्वक उज्ज्वल ध्यान करके, दोनों हाथों को कमल-कोश के आकार में जोड़ ले और हाथ में काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे ॥१३२-१३३॥

उद्घाटितकराम्भोजस्ततो यत्राङ्गुलीतिथौ ।
वीक्ष्यते कालबिन्दुः स, काल इत्येव कीर्त्यते ॥१३४॥

अर्थ – उसके बाद हस्तकमल खोलने पर जिस-जिस अंगुली के अन्दर कल्पित अंधेरी या उजली तिथि में काला बिन्दु दिखायी दे, उसी अन्धेरी या उजली तिथि के दिन मृत्यु होगी, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥१३४॥

क्षुतविण्मेदमूत्राणि, भवन्ति युगपद् यदि ।
मासे तत्र तिथौ तत्र, वर्षान्ते मरणं तदा ॥१३५॥

अर्थ – जिस मनुष्य को छींक, विष्ठा, वीर्यपात और पेशाब, ये चारों एक साथ हो जाये, उसकी एक वर्ष के अन्त में उसी मास और उसी तिथि में मृत्यु होगी ॥१३५॥

रोहिणीं शशभृल्लक्ष्म, महापथमरुन्धतीम् ।
ध्रुवं च न यदा पश्येद्, वर्षेण स्यात् तदा मृतिः ॥१३६॥

अर्थ – रोहिणी नक्षत्र, चन्द्रमा चिह्न, छायापथ-आकाशमार्ग, अरूंधती तारा और ध्रुव यह पाँच या इनमें से एक भी दिखायी न दे तो उसकी एक वर्ष में मृत्यु होती है ॥१३६॥

अरून्धतीं ध्रुवं चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थं मातृमंडलम् ॥१३७॥
अरून्धती भवे जिव्हा, ध्रुवो नासाग्रमुच्यते ।
तारा विष्णुपदं प्रोक्तं, भ्रुवौ स्यान्मातृमंडलम् ॥१३८॥

अर्थ – अरूंधती यानि जीव्हा, ध्रुव यानि नासिका का अग्रभाग कहलाता है। तारा यानि विष्णुपद कहा गया है और मातृमंडल यानि भ्रकुटि कहलाती है। अरूंधती, ध्रुव तीसरा विष्णुपद और चौथा मातृमंडल इन चारों को क्षीणायुष्य वाला

मनुष्य नहीं देख सकता है। ॥१३७-१३८॥

स्वप्ने स्वं भक्ष्यमाणं श्व-गृध्र-काक-निशाचरैः ।
उह्यमानं खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत् तदा मृतिः ॥१३९॥

अर्थ – यदि कोई मनुष्य स्वप्न में कुत्ते, गिद्ध, कौएँ या अन्य निशाचर आदि जीव द्वारा अपने शरीर को भक्षण करते देखे या गधा, ऊँट, सूअर, कुत्ते आदि पर सवारी करता देखे या उनके द्वारा अपने को घसीटकर ले जाते देखे तो उसकी एक वर्ष में मृत्यु होगी ॥१३९॥

रश्मिनिर्मुक्तादित्यं, रश्मियुक्तं हविर्भुजम् ।
यदा पश्येद् विपद्येत, तदैकादशमासतः ॥१४०॥

अर्थ – यदि कोई पुरुष सूर्य को किरण रहित देखे और अग्नि को किरण-युक्त देखे तो वह ग्यारह मास में मर जाता है ॥१४०॥

वृक्षाग्रे कुत्रचित् पश्येद्, गन्धर्वनगरं यदि ।
पश्येत्प्रेतान् पिशाचान् वा, दशमे मासि तन्मृतिः ॥१४१॥

अर्थ – यदि किसी मनुष्य को किसी स्थान पर गन्धर्वनगर का प्रतिबिम्ब वृक्ष पर दिखायी दे अथवा प्रेत या पिशाच प्रत्यक्ष रूप में दिखायी दे तो उसकी दसवें महीने में मृत्यु होती है ॥१४१॥

छर्दिर्मूत्रं पुरीषं वा, सुवर्ण-रजतानि वा ।
स्वप्ने पश्येद् यदि तदा, मासान्नवैव जीवति ॥१४२॥

अर्थ – यदि कोई व्यक्ति स्वप्न मे उल्टी, मूत्र, विष्ठा

अथवा सोना या चाँदी देखता है तो वह नौ महीने तक जीवित रहता है ॥१४२॥

स्थूलोऽकस्मात् कृशोऽकस्मादकमस्मादतिकोपनः ।
अकस्मादतिभीरुर्वा, मासानष्टैव जीवति ॥१४३॥

अर्थ – जो मनुष्य बिना कारण अकस्मात् ही मोटा हो जाये या अकस्मात् ही दुबला हो जाये अथवा अकस्मात् ही क्रोधी स्वभाव का हो जाये या डरपोक हो जाये तो वह आठ महीने तक ही जीवित रहता है ॥१४३॥

समग्रमपि विन्यस्तं, पांशौ वा कर्दमेऽपि वा ।
स्याच्चेत्खण्डं पदं सप्तमास्यन्ते म्रियते तदा ॥१४४॥

अर्थ – यदि धूल पर या कीचड़ मे पूरा पैर रखने पर भी जिसे वह अधूरा पड़ा हुआ दिखायी दे, उसकी सात महीने में मृत्यु होती है ॥१४४॥

तारां श्यामां यदा पश्येत्, शुष्येदधरतालु च ।
न स्वाङ्गुलित्रयं मायाद्, राजदन्तद्वयान्तरे ॥१४५॥
गृध्रः काकः कपोतो वा, क्रव्यादोऽन्योऽपि वा खगः ।
निलीयेत यदा मूर्ध्नि, षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१४६॥

अर्थ – यदि अपनी आंख की पुतली एकदम काली दिखायी दे, किसी बिमारी के बिना ही ओठ और तालु सूखने लगें, मुंह चौड़ा करने पर ऊपर और नीचे के मध्यवर्ती दांतों के बीच अपनी तीन अंगुलियाँ नहीं समाएँ तथा गिद्ध, काक, कबूतर या कोई भी मांसभक्षी पक्षी

मस्तक पर बैठ जाये तो उसकी छह महीने के अन्त में मृत्यु होती है ॥१४५-१४६॥

प्रत्यहं पश्यताऽनभ्रेऽहन्यापूर्यजलैर्मुखम् ।
विहिते फूत्कृते शक्रधन्वा तु तत्र दृश्यते ॥१४७॥
यदा न दृश्यते तत्तु मासैः षड्भिर्मृतिस्तदा ।
परनेत्रे स्वदेहं चेत् न पश्येन्मरणं तदा ॥१४८॥

अर्थ – हमेशा मेघरहित दिन के समय मुंह में पानी भरकर आकाश में फुरर् करते हुए ऊपर उछालने पर और कुछ दिन तक ऐसा करने पर उस पानी में इन्द्र-धनुष-सा दिखायी देता है। परन्तु जब वह इन्द्रधनुष्य न दिखायी दे तो उस व्यक्ति की छह महीने में मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरे की आंख की पुतली में अपना शरीर दिखायी न दे तो भी समझ लेना कि छह मास में मृत्यु होगी ॥१४७-१४८॥

कूर्परौ न्यस्य जान्वोर्मूर्ध्न्येकीकृत्य करौ सदा ।
रम्भाकोशनिभां छायां, लक्षयेदन्तरोद्भवाम् ॥१४९॥
विकासि च दलं तत्र, यदैकं परिलक्ष्यते ।
तस्यामेव तिथौ मृत्युः षण्मास्यन्ते भवेत् तदा ॥१५०॥

अर्थ – दोनों घुटनों पर दोनों हाथों की कोहनियों को टेक करके अपने हाथ के दोनों पंजे मस्तक पर रखे और ऐसा करने पर नभ में बादल न होने पर भी दोनों हाथों के बीच में डोडे के समान छाया उत्पन्न होती है, तो उसे हमेशा देखते रहना चाहिए। उस छाया में एक पत्र जिस दिन विकसित होता हुआ दिखायी

दे तो समझ लेना कि उसी दिन उसी तिथि को छह महीने के अन्त में मृत्यु होगी ॥१४९-१५०॥

इन्द्रनीलसमच्छाया, वक्रीभूता सहस्रशः ।
मुक्ताफलालङ्करणाः, पन्नगाः सूक्ष्ममूर्तयः ॥१५१॥
दिवा सम्मुखमायान्तो, दृश्यन्ते व्योम्नि सन्निधौ ।
न दृश्यन्ते यदा ते तु, षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१५२॥

अर्थ - जब आकाश बादलों से रहित हो, उस समय मनुष्य धूप में स्थिर रहे, तब उसे इन्द्रनील-मणि की कान्ति के समान टेढ़े-मेढ़े हजारों मोतियों के अलंकार वाले तथा सूक्ष्म आकृति के सर्प सन्मुख आते हुए दिखायी देते हैं, किन्तु जब वे सर्प न दिखाई दें तो समझना कि छह महिने के अन्त में उसकी मृत्यु होगी ॥१५१-१५२॥

स्वप्ने मुण्डितमभ्यक्तं, रक्तगन्धस्त्रगम्बरम् ।
पश्येद् याम्यां खरे यान्तं, स्वं योऽब्दार्धं स जीवति ॥१५३॥

अर्थ - जो मनुष्य स्वप्न में अपना मस्तक मुंडा हुआ, तैल का मालिश किये हुए लाल रंग का पदार्थ शरीर पर लेप किया हुआ, गले में लाल रंग की माला पहने हुए और लाल रंग के वस्त्र पहनकर गधे पर चढ़कर दक्षिणदिशा की ओर जाता हुआ देखता है, उसकी छह महिने में मृत्यु होती है ॥१५३॥

घण्टानादो रतान्ते चेद्, अकस्मादनुभूयते ।
पञ्चता पञ्चमास्यन्ते तदा भवति निश्चितम् ॥१५४॥

अर्थ - जिसको विषय सेवन करने के बाद अकस्मात् ही शरीर में घंटे की अवाज सुनायी दे तो निश्चय ही उसकी पाँच मास के अन्त में मृत्यु होगी ॥१५४॥

शिरोवेगात् समारूह्य, कृकलासो व्रजन् यदि ।
दध्याद् वर्णत्रयं पञ्चमास्यन्ते मरणं तदा ॥१५५॥

अर्थ - जिस व्यक्ति के सिर पर कदाचित् कोई गिरगिट तेजी से चढ़ जाये और जाते समय तीन बार रंग बदले तो, उस व्यक्ति की मृत्यु पाँच मास के अन्त में होती है ॥१५५॥

वक्रीभवति नासा चेद्, वर्तुलीभवती दृशौ ।
स्व-स्थानाद् भ्रश्यतः कर्णौ, चातुर्मास्यां तदा मृति ॥१५६॥

अर्थ - यदि किसी मनुष्य की नाक टेढ़ी हो जाय, आंखें गोल हो जाये और कान आदि अन्य अंग अपने स्थान से भ्रष्ट या शिथिल हो जाये तो उसकी चार महीने में मृत्यु होती है ॥१५६॥

कृष्णं कृष्णपरीवारं लोहदण्डधरं नरम् ।
यदा स्वप्ने निरीक्षेत, मृत्युर्मासैस्त्रिभिस्तदा ॥१५७॥

अर्थ - यदि स्वप्न में काले रंग का काले परिवार वाला और लोहदण्डधारी मनुष्य दिखायी दे तो उसकी मृत्यु तीन महीने में होती है ॥१५७॥

इन्दुमुष्णं रविं शीतं, छिद्रं भूमौ रवावपि ।
जिह्वां श्यामां मुखं कोकनदाभं च यदेक्षते ॥१५८॥
तालुकम्पो मनःशोको, वर्णोऽङ्गेऽनेकधा यदा ।
नाभेश्चाकस्मिकी हिक्का मृत्युर्मासद्वयात् तदा ॥१५९॥

अर्थ – यदि किसी को चन्द्रमा उष्ण, सूर्य ठण्डा, पृथ्वी और सूर्यमण्डल में छिद्र दिखायी दे, अपनी जीभ काली, मुख लालकमल के समान दिखायी दे, और जिसके तालु में कम्पन हो, निष्कारण मन में शोक हो, शरीर में अनेक प्रकार के रंग पैदा होने लगे और नाभिकमल से अकस्मात् हिचकी ऊठे तो उसकी मृत्यु दो मास में हो जाती है ॥१५८-१५९॥

जिह्वा नास्वादमादत्ते मुहुः स्खलति भाषणे ।
श्रोते न शृणुतः शब्दं, गन्धं वेत्ति न नासिका ॥१६०॥
स्पन्देते नयने नित्यं, दृष्टवस्तुन्यपि भ्रमः ।
नक्तमिन्द्रधनुः पश्येत्, तथोल्कापतनं दिवा ॥१६१॥
न च्छायामात्मनः पश्येद् दर्पणे सलिलेऽपि वा ।
अनब्दां विद्युतं पश्येत् शिरोऽकस्मादपि ज्वलेत् ॥१६२॥
हंस-काक-मयूराणां, पश्येच्च क्वापि संहतिम् ।
शीतोष्णखरमृद्वादेरपि, स्पर्शं न वेत्ति च ॥१६३॥
अमीषां लक्ष्मणां मध्याद्, यदैकमपि दृश्यते ।
जन्तोर्भवति मासेन, तदा मृत्युर्न संशयः ॥१६४॥

अर्थ – यदि किसी की जीभ स्वाद को न पहचान सकती हो, बोलते समय बार-बार लड़खड़ाती हो, कानों से शब्द न सुनायी देता हो और नासिका गन्ध को न जान पाती हो, नेत्र हमेशा फड़कते रहें, देखी हुई वस्तु में भी भ्रम उत्पन्न होने लगे, रात में इन्द्रधनुष देखे, दिन में उल्कापात दिखायी दे, दर्पण में अथवा पानी में अपनी आकृति दिखाई

न दे, बादल न होने पर भी बिजली दिखायी दे और अकस्मात् मस्तक में जलन हो जाये, हंसों, कौओं और मयूरों का झुंड कहीं भी दिखायी दे, वायु के ठंडे, गर्म, कठोर या कोमल स्पर्श का ज्ञान भी नष्ट हो जाये । इन सभी लक्षणों में से कोई भी एक लक्षण दिखायी दे तो उस मनुष्य की निःसंदेह एक महीने में मृत्यु हो जाती है ॥१६०-१६४॥

शीते हकारे फुत्कारे, चोष्णे स्मृतिगतिक्षये ।
अङ्गपञ्चकशैत्ये च, स्याद् दशाहेन पञ्चता ॥१६५॥

अर्थ – अपना मुख फाड़कर 'ह' अक्षर का उच्चारण करते समय श्वास ठण्डा निकले, फूंक के साथ श्वास बाहर निकालते समय गर्म प्रतीत हो, स्मरणशक्ति लुप्त हो जाये, चलने फिरने की शक्ति खत्म हो जाये, शरीर के पाँचों अंग ठण्डे पड़ जाये तो उसकी मृत्यु दस दिन में होती है ॥१६५॥

अर्धोष्णमर्धशीतं च, शरीरं जायते यदा ।
ज्वालाऽकस्माज्ज्वलेद्वाङ्गे, सप्ताहेन तदा मृतिः ॥१६६॥

अर्थ – यदि किसीका आधा शरीर उष्ण और आधा ठण्डा हो जाये और अकस्मात् ही शरीर में ज्वालाएँ जलने लगें तो उसकी एक सप्ताह में मृत्यु होती है ॥१६६॥

स्नातमात्रस्य हृत्पादं, तत्क्षणाद् यदि शुष्यति ।
दिवसे जायते षष्ठे, तदा मृत्युरसंशयम् ॥१६७॥

अर्थ – यदि स्नान करने के बाद तत्काल ही छाती और पैर सूख जाये तो निःसंदेह छठे दिन उसकी मृत्यु हो जाती है ॥१६७॥

जायते दन्तघर्षश्चेत्, शवगन्धश्च दुःसहः ।
विकृता भवति च्छाया, त्र्यहेन म्रियते तदा ॥१६८॥

अर्थ – जो मनुष्य दांतों को कटाकट पीसता-घिसता रहे, जिसके शरीर में से मुर्दे के समान दुर्गन्ध निकलती रहे या जिसके शरीर का रंग बार-बार बदलता रहे, या जिसकी छाया बिगड़ती रहे उसकी तीन दिन में मृत्यु होती है ॥१६८॥

न स्वनासां स्वजिह्वां न, न ग्रहान् नामला दिशः ।
नापि सप्तऋषीन् यर्हि, पश्यति म्रियते तदा ॥१६९॥

अर्थ – जो मनुष्य अपनी नाक को, अपनी जीभ को, आकाश में ग्रहों को, नक्षत्र को, तारों को, निर्मल दिशाओं को, सप्तर्षि ताराश्रेणि को नहीं देखता, वह दो दिन में मर जाता है ॥१६९॥

प्रभाते यदि वा सायं, ज्योत्स्नावत्यामथो निशि ।
प्रवितत्य निजौ बाहू, निजच्छायां विलोक्य च ॥१७०॥
शनैरुत्क्षिप्य नेत्रे स्वच्छायां पश्येत ततोऽम्बरे ।
न शिरो दृश्यते तस्यां यदा स्यान्मरणं तदा ॥१७१॥
नेक्ष्यते वामबाहुश्चेत्, पुत्रदारक्षयस्तदा ।
यदि दक्षिणबाहुर्नेक्ष्यते भ्रातृक्षयस्तदा ॥१७२॥
अदृष्टे हृदये मृत्युः उदरे च धनक्षयः ।
गूह्ये पितृविनाशस्तु व्याधिरूरुयुगे भवेत् ॥१७३॥
अदर्शने पादयोश्च, विदेशगमनं भवेत् ।
अदृश्यमाने सर्वाङ्गे, सद्यो मरणमादिशेत् ॥१७४॥

अर्थ – कोई मनुष्य प्रातःकाल या सांयकाल अथवा शुक्लपक्ष की रात्रि में प्रकाश में खड़ा होकर अपने दोनों हाथ कायोत्सर्गमुद्रा की तरह नीचे लटकाकर कुछ समय तक अपनी छाया देखता रहे, उसके बाद नेत्रों को धीरे-धीरे छाया से हटाकर ऊपर आकाश में देखने पर उसे पुरुष की आकृति दिखायी देगी । यदि उस आकृति में उसे अपना मस्तक न दिखायी दे तो समझ लेना कि मेरी मृत्यु होने वाली है, यदि उसे अपनी बांई भुजा न दिखाई दे तो पुत्र या स्त्री की मृत्यु होती है और दाहिनी भुजा न दिखायी दे तो भाई की मृत्यु होती है। यदि अपना हृदय न दिखायी दे तो अपनी मृत्यु होती है, और पेट न दिखायी दे तो उसके धन का नाश होता है । यदि अपना गुह्यस्थान न दिखायी दे तो अपने पिता आदि पूज्यजन की मृत्यु होती है और दोनों जांघे नहीं दिखायी दे तो शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है । यदि पैर न दीखे तो उसे विदेशयात्रा करनी पड़ती है और अपना सम्पूर्ण शरीर दिखायी न दे तो उसकी शीघ्र ही मृत्यु होती है ॥१७०-१७४॥

विद्यया दर्पणाङ्गुष्ठ-कुड्यासिष्ववतारिता ।
विधिना देवता पृष्टा, ब्रूते कालस्य निर्णयम् ॥१७५॥

अर्थ – गुरु महाराज के द्वारा कथित विधि के अनुसार विद्या के द्वारा दर्पण, अंगूठे, दीवार या तलवार आदि पर विधि पूर्वक उतारी हुई देवता आदि की आकृति प्रश्न करने पर काल (मृत्यु) का निर्णय बता देती है ॥१७५॥

सूर्येन्दुग्रहणे विद्यौं, नरवीरे ! ठ ठेत्यसौ ।
साध्या दशसहस्त्रयाऽष्टोत्तरया जपकर्मतः ॥१७६॥

अर्थ – सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण का समय हो, तब 'ॐ नरवीरे ठः ठः स्वाहा' इस विद्या का दस हजार आठ बार जाप करके इसे सिद्ध कर लेना चाहिए ॥१७६॥

अष्टोत्तरसहस्त्रस्य, जपात् कार्यक्षणे पुनः ।
देवता लीयतेऽस्यादौ, ततः कन्याऽऽह निर्णयम् ॥१७७॥

अर्थ – जब इस विद्या से कार्य लेना हो तो एक हजार आठ बार जाप करने से वह दर्पण, तलवार आदि पर अवतरित हो जाती है वाद में कन्या निर्णय कहती है । ॥१७७॥

उसके बाद दर्पण आदि में एक कुमारी (निर्दोष) कन्या को दिखलाना चाहिए । जब कन्या को उसमें देवता का रूप दिखायी दे, तब उससे आयु का प्रश्न करके निर्णय करना चाहिए ।

सत्साधकगुणाकृष्टा, स्वयमेवाथ देवता ।
त्रिकाल-विषयं ब्रूते, निर्णयं गतसंशयम् ॥१७८॥

अथवा उत्तम प्रकार के साधक के गुणों से आकृष्ट होकर देवता अपने आप ही निःसंदेह त्रिकाल-संबंधी आयु का निर्णय बता देगा ॥१७८॥

अथवा शकुनाद् विद्यात्, सज्जो वा यदि वाऽऽतुरः ।
स्वतो वा परतो वाऽपि, गृहे वा यदि वा बहिः ॥१७९॥
अहि-वृश्चिक-कृम्याखु-गृहगोधा-पिपीलिकाः ।
यूका-मत्कुण-लूताश्च, वल्मीकोऽथोपदेहिकाः ॥१८०॥

कीटिका घृतवर्णाश्च, भ्रमर्यश्च यदाऽधिकाः ।
उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत् ॥१८१॥

अर्थ – अथवा कोई पुरुष नीरोगी हो या रोगी हो अपने आप से और दूसरे से, घर के भीतर हो या घर के बाहर, शकुन के द्वारा कालनिर्णय करे । जैसे – सर्प, बिच्छू, कीडे, चूहे, छिपकली, चिटियाँ, जूं, खटमल, मकडी, दीमक, घृतवर्ण की चीटियाँ, भौंरे आदि बहुत अधिक परिमाण में निकलते दीखें तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि या मृत्यु होती है ॥१७९-१८१॥

उपानद्-वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायाङ्ग-कुन्तलान् ।
चञ्च्वा चुम्बेद् यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पञ्चता ॥१८२॥
अश्रुपूर्णदृशो गावो, गाढं पादैर्वसुन्धराम् ।
खनन्ति चेत् तदानीं स्याद्, रोगो मृत्युश्च तत्प्रभोः ॥१८३॥

अर्थ – जूते, हाथी, घोड़े आदि किसी सवारी को अथवा छत्र, शस्त्र, परछांई, शरीर या केश को कौआ चुम्बन कर ले तो मृत्यु नजदीक समझो, यदि आंखों से आंसू बहाती हुई गायें अपने पैरों से जोर से पृथ्वी को खोदने लगे तो उसके स्वामी को बीमारी या मृत्यु होगी ॥१८२-१८३॥

अनातुरकृते ह्येतत्, शकुनं परिकीर्तितम् ।
अधुनाऽऽतुरमुद्दिश्य, शकुनं परिकीर्त्यते ॥१८४॥

अर्थ – पूर्व श्लोकों में स्वस्थ पुरुष के कालनिर्णय के लिए शकुन बताया गया है । अब रोगी मनुष्य को लक्ष्य करके शकुन कहते हैं ॥१८४॥

दक्षिणस्यां वलित्वा चेत् श्वा गुदं लेढ्युरोऽथवा ।
लाङ्गूलं वा तदा मृत्युः, एक-द्वि-त्रिदिनैः क्रमात् ॥१८५॥
शेते निमित्तकाले चेत्, श्वा सङ्कोच्याखिलं वपुः ।
धूत्वा कर्णौ वलित्वाऽङ्गं, धुनोत्यथ ततो मृतिः ॥१८६॥
यदि व्यात्तमुखो लालां, मुञ्चन् सङ्कोचितेक्षणः ।
अङ्ग सङ्कोच्य शेते श्वा, तदा मृत्युर्न संशयः ॥१८७॥

अर्थ – रोगी मनुष्य जब अपने आयुष्य-सम्बन्धी शकुन देख रहा हो, उस समय यदि कुत्ता दक्षिणदिशा में मुड़कर अपनी गुदा को चाटे तो उसकी एक दिन में मृत्यु होती है, यदि हृदय को चाटे तो दो दिन में और पूंछ चाटे तो तीन दिन में मृत्यु होती है। यदि रोगी निमित्त देख रहा हो उस समय कुत्ता अपने पूरे शरीर को सिकोड़कर सोया हो अथवा कानों को पटपटा रहा हो या शरीर को मोड़कर हिला रहा हो तो रोगी की मृत्यु होगी। यदि कुत्ता मुंह फाड़कर लार टपकाता हुआ आंख बंद और शरीर को सिकोड़कर सोता हुआ दिखायी दे तो रोगी की निश्चित ही मृत्यु होगी ॥१८५-१८७॥

यद्यातुरगृहस्योर्ध्वं, काकपक्षिगणो मिलन् ।
त्रिसन्ध्यं दृश्यते नूनं, तदा मृत्युरुपस्थितः ॥१८८॥
महानसेऽथवा शय्यागारे काकाः क्षिपन्ति चेत् ।
चर्मास्थिरज्जु केशान् वा, तदाऽऽसन्नैव पञ्चता ॥१८९॥

अर्थ – यदि रोगी मनुष्य के घर पर प्रभात, मध्याह्न और शाम के समय अर्थात् तीनों सन्ध्याओं के समय में

कौओं का झुण्ड मिलकर कोलाहल करे तो समझ लेना कि मृत्यु निकट है । तथा रोगी के भोजनगृह या शयनगृह पर कौए चमड़ा, हड्डी, रस्सी या केश डाल दें तो समझना चाहिए कि रोगी की मृत्यु समीप ही है ॥१८८-१८९॥

अथवोपश्रुतेर्विद्याद् विद्वान् कालस्य निर्णयम् ।
प्रशस्ते दिवसे स्वप्नकाले शस्तां दिशं श्रितः ॥१९०॥
पूत्वा पञ्च नमस्कृत्याऽऽचार्यमन्त्रेण वा श्रुती ।
गेहाच्छन्नश्रुतिर्गच्छेच्छिल्पिचत्वरभूमिषु ॥१९१॥
चन्दनेनार्चयित्वा क्ष्मां, क्षिप्त्वा गन्धाक्षतादि च ।
सावधानस्ततस्तत्रोपश्रुतेः शृणुयाद् ध्वनिम् ॥१९२॥
अर्थान्तरापदेश्यश्च, सरूपश्चेति स द्विधा ।
विमर्शगम्यस्तत्राद्यः स्फुटोक्तार्थोऽपरः पुनः ॥१९३॥
यथैष भवनस्तम्भ, पञ्च-षड्भिरयं दिनैः ।
पक्षैर्मासैरथो वर्षैर्भङ्क्ष्यते यदि वा न वा ॥१९४॥
मनोहरतरश्चासीत्, किं त्वयं लघु भङ्क्ष्यते ।
अर्थान्तरापदेश्या स्याद्, एवमादिरुपश्रुतिः ॥१९५॥
एषा स्त्रीः पुरुषो वाऽसौ, स्थानादस्मान्न यास्यति ।
दास्यामो न वयं गन्तुं, गन्तुकामो न चाप्ययम् ॥१९६॥
विद्यते गन्तुकामोऽयम् अहं च प्रेषणोत्सुकः ।
तेन यस्यात्यसौ शीघ्रं, स्यात् सरूपेत्युपश्रुतिः ॥१९७॥
कर्णोद्घाटन-सञ्जातोपश्रुत्यन्तरमात्मनः ।
कुशलाः कालमासन्नम्, अनासन्नं च जानते ॥१९८॥

अर्थ – अथवा विद्वानपुरुषों को उपश्रुति से आयुष्य-काल जान लेना चाहिए। उसकी विधि इस प्रकार है – जिस दिन भद्रा आदि अपयोग न हो, ऐसे शुभदिन में सोने के समय अर्थात् एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के बाद शयन-काल में उत्तर, पूर्व या पश्चिम दिशा में प्रयाण करना। जाते समय पाँच नवकारमन्त्र से या सूरिमन्त्र से अपने दोनों कान पवित्र करके किसी का शब्द कान में सुनायी न दे इस प्रकार बन्द करके घर से बाहर निकले। और शिल्पियों (कारीगरों) के घरों की और चौक अथवा बजार की ओर पूर्वोक्त दिशाओं में गमन करे। वहाँ जाकर भूमि की चन्दन से अर्चना करके सुगन्धित चूर्ण, अक्षत आदि डालकर सावधान होकर कान खोलकर लोगों के शब्दों को सुने। वे शब्द दो प्रकार के होते हैं – १. अर्थान्तरापदेश्य और २. स्वरूप-उपश्रुति। प्रथम प्रकार का शब्द सुना जाये तो उसका अभीष्ट अर्थ प्रकट न करे, और दूसरा स्वरूप उपश्रुति अर्थात् जैसा शब्द हो, उसी अर्थ को प्रकट करना। अर्थान्तरापदेश्य-उपश्रुति का अर्थ विचार (तर्क) करने पर ही जाना जा सकता है, जैसे कि 'इस मकान का स्तम्भ पाँच-छह दिनों में पाँच-छह पखवाडों में, पाँच-छह महीनों में या पाँच-छह वर्षों में टूट जायेगा अथवा नहीं टूटेगा, यह स्तम्भ अतिमनोहर है, परन्तु यह छोटा है, जल्दी ही नष्ट हो जायेगा।' इस प्रकार की उपश्रुति 'अर्थान्तरापदेश्य' कहलाती है। यह सुनकर अपनी आयुष्य का अनुमान लगा देना चाहिए। जितने दिन, पक्ष,

महीने, वर्ष में स्तम्भ टूटने की ध्वनि सुनायी दी हो, उतने ही दिन आदि में आयु की समाप्ति समझना चाहिए। दूसरी स्वरूप-उपश्रुति इस प्रकार होती है-यह स्त्री इस स्थान से नहीं जायेगी, यह पुरुष यहाँ से जाने वाला नहीं है अथवा हम उसे जाने नहीं देंगे और वह जाना भी नहीं चाहता या अमुक यहाँ से जाना चाहता है, मैं उसे भेजना चाहता हूँ, अतः अब वह शीघ्र ही चला जायेगा, यह स्वरूप उपश्रुति कहलाती है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि जाने की बात सुनायी दे तो आयु का अन्त निकट है और रहने की बात सुने तो मृत्यु अभी नजदीक नहीं है। इस प्रकार कान खोलकर स्वयं सुनी हुई उपश्रुति के अनुसार चतुर पुरुष अपनी मृत्यु निकट या दूर है, इसे जान लेते हैं॥१९०-१९८॥

शनिः स्याद् यत्र नक्षत्रे, तद्दातव्यं मुखे ततः ।
चत्वारि दक्षिणे पाणौ, त्रीणि त्रीणि च पादयोः ॥१९९॥
चत्वारि वामहस्ते तु, क्रमशः पञ्च वक्षसि ।
त्रीणि शीर्षे दृशोर्द्वे, द्वे गुह्य एकं शनौ नरे ॥२००॥
निमित्तसमये तत्र, पतितं स्थापना-क्रमात् ।
जन्मऋक्षं नामऋक्षं वा, गुह्यदेशे भवेद् यदि ॥२०१॥
दृष्टं श्लिष्टं ग्रहैर्दुष्टैः सौम्यैरप्रेक्षितायुतम् ।
सज्जस्यापि तदा मृत्यु, का कथा रोगिणः पुनः ? ॥२०२॥

अर्थ – शनैश्चरपुरुष के समान आकृति बनाकर फिर निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र में शनि हो, उसके मुख में

वह नक्षत्र स्थापित करना चाहिए। उसके बाद क्रमशः आने वाले चार नक्षत्र दाहिने हाथ में स्थापित करना, तीन-तीन दोनों पैरों में चार बाएँ हाथ में, पाँच वक्षस्थल में, तीन मस्तक में, दो-दो नेत्रों में और एक गुह्यस्थान में स्थापित करना चाहिए। बाद में निमित्त देखने के समय में स्थापित किये हुए क्रम से जन्मनक्षत्र अथवा नाम-नक्षत्र यदि गुह्यस्थान में आया हो और उस पर दुष्टग्रह की दृष्टि पड़ती हो अथवा उसके साथ मिलाप हो तथा सौम्य ग्रह की दृष्टि या मिलाप न होता हो तो निरोगी होने पर भी वह मनुष्य मर जाता है, रोगी पुरुष की तो बात ही क्या ? ॥१९९-२०२॥

पृच्छायामथ लग्नास्ते, चतुर्थदशमस्थितः ।
ग्रहाः क्रूराः शशी षष्ठाष्टमश्चेत् स्यात् तदा मृतिः ॥२०३॥

अर्थ - आयुष्य-विषयक प्रश्न पूछने के समय जो लग्न चल रहा हो, वह उसी समय अस्त हो जाये और क्रूरग्रह चौथे, सातवें या दसवें में रहे और चन्द्रमा छठा या आठवाँ हो तो उस पुरुष की मृत्यु हो जाती है ॥२०३॥

पृच्छायाः समये लग्नाधिपतिर्भवति ग्रहः ।
यदि चास्तमितो मृत्युः, सज्जस्यापि तदा भवेत् ॥२०४॥

अर्थ - आयु-सम्बन्धी प्रश्न पूछते समय यदि लग्नाधिपति मेषादि राशि में गुरु, मंगल और शुक्रादि हो अथवा चालू लग्न का अधिपति ग्रह अस्त हो गया हो तो नीरोगी मनुष्य की भी मृत्यु हो जाती है ॥२०४॥

लग्नस्थश्चेच्छशी सौरिः, द्वाद्दशो नवमः कुजः ।
अष्टमोऽर्कस्तदा मृत्युः स्यात् चेत् न बलवान् गुरुः ॥२०५॥

अर्थ - यदि प्रश्न करते समय लग्न में चन्द्रमा स्थित हो, बारहवें में शनि हो, नौवें में मंगल हो, आठवें में सूर्य हो और गुरु बलवान न हो तो उसकी मृत्यु होती है ॥२०५॥

रविः षष्ठस्तृतीयो वा, शशी च दशमस्थितः ।
यदा भवति मृत्युः स्यात्, तृतीये दिवसे तदा ॥२०६॥
पापग्रहाश्चेदुदयात्, तुर्ये वा द्वादशेऽथवा ।
दिशन्ति तद्विदो मृत्यु तृतीये दिवसे तदा ॥२०७॥

अर्थ - उसी तरह प्रश्न करने पर सूर्य तीसरे या छठे में हो और चन्द्रमा दसवें में हो तो समझना चाहिए, उसकी तीसरे दिन मृत्यु होगी। यदि पापग्रह लग्न के उदय से चौथे या बारहवें में हों तो कहते हैं - कालज्ञान के जानकार पुरुष की तीसरे दिन मृत्यु हो जायेगी ॥२०६-२०७॥

उदये पञ्चमे वाऽपि यदि पापग्रहो भवेत् ।
अष्टभिर्दशभिर्वा स्याद्दिवसैः पञ्चता ततः ॥२०८॥
धनुर्मिथुनयोः सप्तमयोर्यद्यशुभा ग्रहाः ।
तदा व्याधिर्मृतिर्वा स्यात्, ज्योतिषामिति निर्णयः ॥२०९॥

अर्थ - प्रश्न करते समय चालू लग्न अथवा पापग्रह पाँचवें स्थान में हो तो आठ या दस दिन में मृत्यु होती है तथा सातवें धनुराशि और मिथुनराशि में अशुभग्रह आये हों तो व्याधि या मृत्यु होती है, ऐसा ज्योतिषकारों का निर्णय है ॥२०८-२०९॥

अन्तःस्थाधिकृतप्राणिनामप्रणवगर्भितम् ।
कोणस्थरेफमाग्नेयपुरं ज्वालाशताकुलम् ॥२१०॥
सानुस्वारैरकाराद्यैः, षट्स्वरैः पार्श्वतो वृतम् ।
स्वस्तिकाङ्कबहिःकोणं, स्वाऽक्षरान्तः प्रतिष्ठितम् ॥२११॥
चतुः-पार्श्वस्थ-गुरुयं, यन्त्रं वायुपुरा वृतम् ।
कल्पयित्वा परिन्यस्येत्, पाद-हृच्छीर्षसन्धिषु ॥२१२॥
सूर्योदयक्षणे सूर्यं, पृष्ठे कृत्वा ततः सुधीः ।
स्व-परायुर्विनिश्चेतुं, निजच्छायां विलोकयेत् ॥२१३॥
पूर्णां छायां यदीक्षेत, तदा वर्षं न पञ्चता ।
कर्णाभावे तु पञ्चत्वं वर्षैर्द्वादशभिर्भवेत् ॥२१४॥
हस्ताङ्गुलिस्कन्धकेशपार्श्वनासाक्षये क्रमात् ।
दशाष्ट-सप्त-पञ्च-त्र्येकवर्षैर्मरणं दिशेत् ॥२१५॥
षण्मास्यां म्रियते नाशे, शिरसश्चिबुकस्य वा ।
ग्रीवानाशे तु मासेनैकादशाहेन दृक्क्षये ॥२१६॥
सच्छिद्रे हृदये मृत्युः, दिवसैः सप्तभिर्भवेत् ।
यदि च्छायाद्वयं पश्येद्, यमपार्श्वं तदा व्रजेत् ॥२१७॥

अर्थ – जिसको अपने आयुष्य का निर्णय करना हो, उसे अपना नाम ॐ कार सहित षट्कोण-यन्त्र के मध्य में लिखना चाहिए । यन्त्र के चारों कोणों में मानो अग्नि की सैकड़ों ज्वालाओं से युक्त 'रकार' की स्थापना करनी चाहिए। उसके बाद अनुस्वार-सहित अकार आदि अं, आं, इं, ई, उं, ऊं छह स्वरों से कोणों के बाह्य भागों को घेर लेना चाहिए। फिर छहों

कोणों के बाहरी भाग में छह स्वस्तिक लिखना चाहिए। बाद में स्वस्तिक और स्वरों के बीच-बीच में छह 'स्वा' अक्षर लिखे । फिर चारों ओर विसर्ग सहित 'यकार' की स्थापना करना और उस यकार के चारों तरफ वायु के पूर से आवृत संलग्न चार रेखाएँ खींचना । इस प्रकार का यन्त्र बनाकर पैर, हृदय, मस्तक और संधियों में स्थापित करना । उसके बाद सूर्योदय के समय सूर्य की ओर पीठ करके और पश्चिम में मुख करके बैठना और अपनी अथवा दूसरे की आयु का निर्णय करने के लिए अपनी छाया का अवलोकन करना चाहिए। यदि पूर्ण छाया दिखायी दे तो एक वर्ष तक मृत्यु नहीं होगी, यदि कान दिखायी न दे तो बारह वर्ष में मृत्यु होगी, हाथ न दीखे तो दस वर्ष में, अंगुलियाँ न दीखे तो आठ वर्ष में, कन्धा न दीखे तो सात वर्ष में, केश न दीखे तो पाँच वर्ष में पार्श्वभाग न दीखे तो तीन वर्ष में, नाक न दीखे तो एक वर्ष में, मस्तक या ठुड्डी न दीखे तो छह महिने में, गर्दन न दीखे तो एक महीने में, नेत्र न दीखे तो ग्यारह दिन में और हृदय में छिद्र दिखायी दे तो सात दिन में मृत्यु होगी। और यदि दो छायाएँ दिखायी दे तो समझ लेना कि मृत्यु अब निकट ही है ॥२१०-२१७॥

इति यन्त्र-प्रयोगेण, जानीयात् कालनिर्णयम् ।
यदि वा विद्यया विद्याद्, वक्ष्यमाणप्रकारया ॥२१८॥

अर्थ – इस प्रकार यन्त्र प्रयोग से आयुष्य का निर्णय

करना चाहिए या अथवा आगे कही जाने वाली विद्या से काल जानना चाहिए ॥२१८॥

प्रथमं न्यस्य चूडायां, 'स्वा' शब्दम् 'ओं' च मस्तके ।
'क्षिं' नेत्रे हृदये 'पं' च, नाभ्यब्जे हाऽक्षरं ततः ॥२१९॥
अनया विद्ययाष्टाग्रशतवारं विलोचने ।
स्वच्छायां चाभिमन्त्र्यार्कं, पृष्ठे कृत्वाऽरुणोदये ॥२२०॥
परच्छायां परकृते, स्वच्छायां स्वकृते पुनः ।
सम्यक्तत्कृतपूजः सन्नुपयक्तो विलोकयेत् ॥२२१॥

अर्थ – 'ॐ जुँ सः ॐ मृत्युं जयाय ॐ वज्रपाणिने शूलपाणिने हर हर दह दह स्वरूपं दर्शय हूं फट् फट्' इस विद्या से १०८ बार अपने दोनों नेत्रों और छाया को मन्त्रित करके सूर्योदय के समय सूर्य की और पीठ करके पश्चिम में मुख रखकर अच्छी तरह पूजा करके उपयोगपूर्वक, दूसरे के लिए दूसरे की छाया और अपने लिये अपनी छाया देखनी चाहिए ॥२१९-२२१॥

सम्पूर्णां यदि पश्येत् तामावर्षं न मृतिस्तदा ।
क्रम-जंघा-जान्वभावे, त्रि-द्वयेकाब्दैर्मृतिः पुनः ॥२२२॥
ऊरोरभावे दशभिः मासैर्नश्येत् कटेः पुनः ।
अष्टाभिर्नवभिर्वाऽपि, तुन्दाभावे तु पञ्चषैः ॥२२३॥
ग्रीवाऽभावे चतुस्त्रिद्व्येकमासैर्म्रियते पुनः ।
कक्षाभावे तु पक्षेण, दशाहेन भुजक्षये ॥२२४॥

दिनैः स्कन्धक्षयेऽष्टाभिः चतुर्याम्यां तु हृत्क्षये ।
शीर्षाभावे तु यामाभ्यां, सर्वाभावे तु तत्क्षणात् ॥२२५॥

अर्थ – यदि पूरी छाया दिखायी दे तो एक वर्ष तक मृत्यु नहीं होगी, पैर जंघा और घुटना न दिखायी देने पर क्रमशः तीन, दो और एक वर्ष में मृत्यु होती है । ऊरू-(पिंडली) न दिखायी दे तो दस महीने में, कमर न दिखायी दे तो आठ-नौ महीने में और पेट न दिखायी दे तो पाँच-छह महीने में मृत्यु होती है । यदि गर्दन न दिखायी दे तो चार, तीन, दो या एक महीने में मृत्यु होती है । यदि बगल न दिखायी दे तो पंद्रह दिन में और भुजा न दिखायी दे तो दस दिन में मृत्यु होती है । यदि कन्धा न दिखायी दे तो आठ दिन में, हृदय न दिखायी दे तो चार प्रहर में मस्तक न दिखायी दे तो दो प्रहर में और शरीर सर्वथा दिखायी न दे तो तत्काल ही मृत्यु होती है ॥२२२-२२५॥

एवमाध्यात्मिकं कालं, विनिश्चेतुं प्रसङ्गतः ।
बाह्यस्यापि हि कालस्य निर्णयः परिभाषितः ॥२२६॥

अर्थ – इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास रूप उपाय से आध्यात्मिक काल ज्ञान का निर्णय बताते हुए प्रसंगवश बाह्य निमित्तों से भी काल का निर्णय बताया गया है ॥२२६॥

को ज्येष्यति द्वयोर्युद्धे ? इति पृच्छत्यवस्थितः ।
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद् रिक्तेस्यादितरस्य तु ॥२२७॥

अर्थ – इन दोनों के युद्ध में किसकी विजय होगी ? इस प्रकार का प्रश्न करने पर यदि स्वाभाविक रूप से पूरक हो रहा हो अर्थात् श्वास भीतर की ओर खिंच रहा हो, तो जिसका नाम पहले लिया गया है उसकी विजय होती है और यदि नाड़ी रिक्त हो रही हो अर्थात् वायु बहार निकल रहा हो तो दूसरे की विजय होती है ॥२२७॥

यत् त्यजेत् सञ्चरन् वायुस्तद्रिक्तमभिधीयते ।
सङ्क्रमेद्यत्र तु स्थाने तत्पूर्णं कथितं बुधैः ॥२२८॥

अर्थ – चलते हुए वायु का बाहर निकालना 'रिक्त' कहलाता है और नासिका के स्थान में पवन अन्दर प्रवेश करता हो तो, उसे पण्डितों ने 'पूर्ण' कहा है ॥२२८॥

प्रष्टाऽऽदौ नाम चेज्ज्ञातुः गृह्णात्यन्वातुरस्य तु ।
स्यादिष्टस्य तदा सिद्धिः, विपर्यासे विपर्ययः ॥२२९॥

अर्थ – प्रश्न करते सयम पहले जानने वाले का और बाद में रोगी का नाम लिया जाय तो इष्टसिद्धि होती है, इसके विपरीत यदि पहले रोगी का और फिर जानने वाले का नाम लिया जाय तो परिणाम विपरीत होता है । जैसे कि 'वैद्यराज ! यह रोगी स्वस्थ हो जायेगा ?' तो रोगी स्वस्थ हो जायेगा । और 'रोगी अच्छा हो जाएगा या नहीं, वैद्यराज ?' इस प्रकार विपरीत नाम बोला जाये तो विपरीत फल जानना अर्थात् रोगी स्वस्थ नहीं होगा ॥२२९॥

वामबाहुस्थिते दूते, समनामाक्षरो जयेत् ।
दक्षिणबाहगे त्वाजौ, विषमाक्षरनामकः ॥२३०॥

अर्थ – युद्ध में किसकी विजय होगी ? इस प्रकार प्रश्न करने वाला दूत यदि बांई और खड़ा हो और युद्ध करने वाले का नाम दो, चार, छह आदि सम अक्षर का हो तो उसकी विजय होगी और प्रश्नकर्ता दाहिनी ओर खड़ा हो तथा योद्धा का नाम विषम अक्षरों वाला हो तो युद्ध में उसकी विजय होती है ॥२३०॥

भूतादिभिर्गृहीतानां, दष्टानां वा भुजङ्गमैः ।
विधिः पूर्वोक्त एवासौ, विज्ञेयः खलु मान्त्रिकैः ॥२३१॥

अर्थ – भूत आदि से आविष्ट हो अथवा सर्प आदि से डस लिये गये हों, तो उनके लिए भी मन्त्रवेत्ताओं से प्रश्न करते समय पूर्वोक्त विधि ही समझनी चाहिए ॥२३१॥

पूर्णा सञ्जायते वामा, विशता वरुणेन चेत् ।
कार्याण्यारभ्यमाणानि, तदा सिध्यन्त्यसंशयम् ॥२३२॥

अर्थ – पहले ४४ वें श्लोक में कहे अनुसार यदि वारुणमण्डल से वामनाडी पूर्ण बह रही हो तो उस समय प्रारम्भ किये गये कार्य अवश्यमेव सफल होते हैं ॥२३२॥

जय-जीवित-लाभादि कार्याणि निखिलान्यपि ।
निष्फलान्येव जायन्ते पवने दक्षिणास्थिते ॥२३३॥

अर्थ – यदि वारुणमण्डल के उदय में पवन दाहिनी नासिका में चल रहा हो तो विजय, जीवन, लाभ आदि

समग्र कार्य निष्फल ही होते हैं ॥२३३॥

ज्ञानी बुध्वाऽनिलं सम्यक्, पुष्पं हस्तात् प्रपातयेत् ।
मृत जीवितविज्ञाने, ततः कुर्वीत निश्चयम् ॥२३४॥

अर्थ – जीवन और मृत्यु के विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी पुरुष वायु को भली-भांति जानकर अपने हाथ से पुष्प नीचे गिराकर उसका निर्णय करते हैं। उसी निर्णय का तरीका बताते हैं ॥२३४॥

त्वरितो वरुणे लाभः, चिरेण तु पुरन्दरे ।
जायते पवने स्वल्पः, सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ॥२३५॥

अर्थ – प्रश्न के उत्तरदाता के यदि वरुणमण्डल का उदय हो तो उसका तत्काल लाभ होता है, पुरन्दर (पृथ्वीमण्डल) का उदय होने पर से लाभ होता है, पवनमण्डल चलता हो तो साधारण लाभ होता है और अग्निमण्डल चलता हो तो सिद्ध हुआ कार्य भी नष्ट हो जाता है ॥२३५॥

आयाति वरुणे यातः, तत्रैवास्ते सुखं क्षितौ ।
प्रयाति पवनेऽन्यत्र, मृत इत्यनले वदेत् ॥२३६॥

अर्थ – किसी गाँव या देश गये हुए मनुष्य के लिए जिस समय प्रश्न किया जाय, उस समय वरुणमण्डल चालू हो तो वह शीघ्र ही लौटकर आने वाला है, पुरन्दरमण्डल में प्रश्न करे तो वह जहाँ गया है, वहाँ सुखी है, पवनमण्डल में प्रश्न करे तो वहाँ से अन्यत्र चला गया है और अग्निमण्डल में प्रश्न करे तो कहे कि उसकी मृत्यु हो गयी है ॥२३६॥

दहने युद्धपृच्छायां, युद्धं भङ्गश्च दारुणः ।
मृत्युः सैन्यविनाशौ वा, पवने जायते पुनः ॥२३७॥

अर्थ – यदि अग्निमण्डल में युद्धविषयक प्रश्न करे तो महाभयंकर युद्ध होगा और पराजय होगी, पवनमण्डल में प्रश्न करे तो जिसके लिए प्रश्न किया गया हो, उसकी मृत्यु होगी और सेना का विनाश होगा ॥२३७॥

महेन्द्रे विजयो युद्धे, वरुणे वाञ्छिताधिकः ।
रिपुभङ्गेन सन्धिर्वा स्वसिद्धिपरिसूचकः ॥२३८॥

अर्थ – महेन्द्रमण्डल अर्थात् पृथ्वीतत्त्व के चलते प्रश्न करे तो युद्ध में विजय होगी, वरुणमण्डल में प्रश्न करे तो मनोरथ से अधिक लाभ होता है तथा शत्रु का मानभंग होकर अपनी सिद्धि को सूचित करने वाली सन्धि होगी ॥२३८॥

भौमे वर्षति पर्जन्यो, वरुणे तु मनोमतम् ।
पवने दुर्दिनाम्भोदौ, वह्नौ वृष्टिः कियत्यपि ॥२३९॥

अर्थ – यदि पृथ्वीमण्डल में वर्षा-सम्बन्धी प्रश्न किया जाय तो वर्षा होगी, वरुणमण्डल में प्रश्न करे तो आशा से अधिक वर्षा होगी, पवनमण्डल में प्रश्न करे तो दुर्दिन व बादल होंगे, परन्तु वर्षा नहीं होगी और अग्निमण्डल में प्रश्न करे तो मामूली वर्षा होगी ॥२३९॥

वरुणे सस्यनिष्पत्तिः, अतिश्लाघ्या पुरन्दरे ।
मध्यस्था पवने च स्यात्, न स्वल्पाऽपि हुताशने ॥२४०॥

अर्थ – धान्य-उत्पत्ति के विषय में वरुणमण्डल में

प्रश्न करे तो धान्य की उत्पत्ति होगी, पुरन्दरमण्डल में प्रश्न करे तो बहुत अधिक धान्योत्पत्ती होगी पवनमण्डल में प्रश्न करे तो – मध्यम ढंग की धान्योत्पत्ति होगी, कहीं होगी और कहीं नहीं होगी और अग्निमण्डल में प्रश्न करे तो धान्य थोड़ा सा भी उत्पन्न नहीं होगा ॥२४०॥

महेन्द्रवरुणौ शस्तौ, गर्भप्रश्ने सुतप्रदौ ।
समीरदहनौ स्त्रीदौ, शून्यं गर्भस्य नाशकम् ॥२४१॥

अर्थ – गर्भसम्बन्धी प्रश्न में महेन्द्र और वरुणमण्डल श्रेष्ठ है, इनमें प्रश्न करे तो पुत्र की प्राप्ति होती है, वायु और अग्निमण्डल में प्रश्न करने पर पुत्री का जन्म होता है और सुषुम्णानाड़ी में प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है ॥२४१॥

गृहे राजकुलादौ च, प्रवेशे निर्गमेऽथवा ।
पूर्णाङ्गपादं पुरतः, कुर्वतः स्यादभीप्सितम् ॥२४२॥

अर्थ – घर में या राजकुल आदि में प्रवेश करते या बाहर निकलते समय जिस ओर की नासिक के छिद्र से वायु चलता हो, उस तरफ के पैर को प्रथम आगे रखकर चलने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है ॥२४२॥

गुरु-बन्धु-नृपामात्याः, अन्येऽपीप्सितदायिनः ।
पूर्णाङ्गे खलु कर्तव्याः, कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥२४३॥

अर्थ – कार्य-सिद्धि के अभिलाषी को गुरु, बन्धु, राजा, प्रधान या अन्य लोगों को, जिनसे इष्ट वस्तु प्राप्त करनी है, अपने पूर्णांग की ओर अर्थात् नासिका के जिस

छिद्र में वायु चलता हो, उस तरफ रख ने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है ॥२४३॥

आसने शयने वाऽपि, पूर्णाङ्गे विनिवेशिताः ।
वशीभवन्ति कामिन्यो, न कार्मणमतः परम् ॥२४४॥

अर्थ – आसन (बैठने) और शयन (सोने) के समय में भी जिस ओर की नासिका से पवन चलता हो, उसी ओर स्त्रियों को बिठाने पर वे वश में होती है। इसके अतिरिक्त और कोई कामण-जादू-टोना नहीं है ॥२४४॥

अरि-चौराऽधमर्णाद्याः, अन्येऽप्युत्पात-विग्रहाः ।
कर्तव्याः खलु रिक्ताङ्गे, जय-लाभ-सुखार्थिभिः ॥२४५॥

अर्थ – जो विजय, लाभ और सुख के अभिलाषी है, उन्हें चाहिए कि वे शत्रु, चोर, कर्जदार तथा अन्य उपद्रव, विग्रह आदि से दुःख पहुंचाने वालों को अपने रिक्तांग की ओर अर्थात् जिस ओर की नासिका से पवन न चले, उसी तरफ बिठाएँ। ऐसा करने से वे दुःख नहीं दे सकते ॥२४५॥

प्रतिपक्षप्रहारेभ्यः, पूर्णांगे योऽभिरक्षति ।
न तस्य रिपुभिः शक्तिर्बलिष्ठैरपि हन्यते ॥२४६॥

अर्थ – शत्रु के प्रहार से जो स्वयं के पूर्ण अंगों की रक्षा करता है, उसकी शक्ति बलवान शत्रुओं से भी क्षय नहीं होती है ॥२४६॥

वहन्तीं नासिकां वामां, दक्षिणां वाऽभिसंस्थितः ।
पृच्छेद् यदि तदा पुत्रो, रिक्तायां तु सुता भवेत् ॥२४७॥

सुषुम्णा-वायु भागे द्वौ, शिशू, रिक्ते नपुंसकम् ।
सङ्क्रान्तौ गर्भहानिः स्यात्, समे क्षेममसंशयम् ॥२४८॥

अर्थ - उत्तरदाता की बांई या दाहिनी नासिका चल रही हो, उस समय सम्मुख खड़ा होकर गर्भ-सम्बन्धी प्रश्न करे तो पुत्री का जन्म होगा, ऐसा कहना चाहिए। यदि प्रश्न करते समय सुषुम्णानाड़ी में पवन चलता हो तो दो बालकों का जन्म होगा, शून्य आकाशमण्डल में पवन चले, तब प्रश्न करे तो नपुंसक का जन्म होगा । दूसरी नाड़ी में संक्रमण करते समय प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है और सम्पूर्ण तत्त्व का उदय होने पर प्रश्न करे तो निःसंदेह क्षेमकुशल होता है ॥२४७-२४८॥

चन्द्रे स्त्रीः पुरुष सूर्ये, मध्यभागे नपुंसकम् ।
प्रश्नकाले तु विज्ञेयमिति कैश्चित् निगद्यते ॥२४९॥

अर्थ - कई आचार्यों का कहना है कि चन्द्रस्वर चले तब सन्मुक रहकर प्रश्न करे तो पुत्री, सूर्यस्वर में पुत्र और सुषुम्णानाड़ी में नपुसंक का जन्म होता है ॥२४९॥

यदा न ज्ञायते सम्यक्, पवनः सञ्चरन्नपि ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्निश्चेतव्यः स बिन्दुभिः ॥२५०॥

अर्थ - यदि यह मण्डल से दूसरे मण्डल में जाता हुआ पुरन्दरादि पवन जब भलीभांति ज्ञात न हो, तब पीले, श्वेत, लाल और काले बिन्दुओं से उसका निश्चय करना चाहिए ॥२५०॥

अङ्गुष्ठाभ्यां श्रुती मध्याङ्गुलीभ्यां नासिकापुटे ।
अन्त्योपान्त्याङ्गुलीभिश्च पिधाय वदनाम्बुजम् ॥२५१॥
कोणावक्ष्णोर्निपीड्याद्याङ्गुलीभ्यां श्वासरोधतः ।
यथावर्णं निरीक्षेत बिन्दुमव्यग्रमानसः ॥२५२॥

अर्थ - दोनों अंगूठों से कान के दोनों छिद्रों को, बीच की अंगुलियों से नासिका के दोनों छिद्रों को, अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों से मुख को और तर्जनी अंगुलियों से आंख के दोनों कोनों को दबाकर श्वासोच्छ्वास को रोककर शान्तचित्त से देखे कि भ्रूकुटि में किस वर्ण के बिन्दु दिखायी देते हैं ? ॥२५१-२५२॥

पीतेन बिन्दुना भौमं, सितेन वरुणं पुनः ।
कृष्णेन पवनं विद्याद्, अरुणेन हुताशनम् ॥२५३॥

अर्थ - पीली बिन्दु दिखायी दे तो पुरन्दरवायु, श्वेतबिन्दु दिखायी दे तो वरुणवायु, कृष्णबिन्दु दीखे तो पवनवायु और लाल बिन्दु दिखायी दे तो अग्निवायु समझना चाहिए ॥२५३॥

निरुरुत्सेद् वहन्तीं यां, वामां वा दक्षिणामथ ।
तदङ्गं पीडयेत् सद्यो, यथा नाडीतरा वहेत् ॥२५४॥

अर्थ - चलती हुई बांयी या दाहिनी नाड़ी को रोकने की अभिलाषा हो तो उस ओर के पार्श्व-(बगल) भाग को दबाना चाहिए। ऐसा करने से दूसरी नाड़ी चालू हो जाती है और चालू नाड़ी बन्द हो जाती है ॥२५४॥

अग्रे वामविभागे हि, शशिक्षेत्रं प्रचक्षते ।
पृष्ठौ दक्षिणभागे तु, रवि-क्षेत्रं मनीषिणः ॥२५५॥
लाभालाभौ सुखं दुखं, जीवितं मरणं तथा ।
विदन्ति विरलाः सम्यग्, वायुसञ्चारवेदिनः ॥२५६॥

अर्थ – विद्वज्जनों का कथन है कि शरीर के बांये भाग में आगे की ओर चन्द्र का क्षेत्र है और दाहिने भाग में पीछे की ओर सूर्य का क्षेत्र है। अच्छी तरह से वायु के संचार को जानने वाले पुरुष लाभ-अलाभ, सुख दुःख, जीवन-मरण भलीभांति जान सकते हैं ॥२५५-२५६॥

अखिलं वायुजन्मेदं, सामर्थ्यं तस्य जायते ।
कर्तुं नाडी-विशुद्धिं य, सम्यग् जानात्यमूढधीः ॥२५७॥

अर्थ – जो प्रखरबुद्धिः पुरुष नाड़ी की विशुद्धि भली-भांति करना जानता है, उसे वायु से उत्पन्न होने वाला सर्वसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ॥२५७॥

नाभ्यब्जकर्णिकारूढं, कला-बिन्दु-पवित्रितम् ।
रेफाक्रान्तं स्फुरद्भासं, हकारं परिचिन्तयेत् ॥२५८॥
तं ततश्च तडिद्वेगं स्फुलिङ्गार्चिशताञ्चितम् ।
रेचयेत् सूर्यमार्गेण, प्रापयेच्च नभस्तलम् ॥२५९॥
अमृतैः प्लावयन्तं तमवतार्य शनैस्ततः ।
चन्द्राभं चन्द्रमार्गेण, नाभिपद्मे निवेशयेत् ॥२६०॥
निष्क्रमं च प्रवेशं च, यथामार्गमनारतम् ।
कुर्वन्नेवं महाभ्यासो, नाडीशुद्धिमवाप्नुयात् ॥२६१॥

अर्थ – नाभिकमल की कर्णिका से आरूढ़ हुए कला और बिन्दु से पवित्र रेफ से आक्रान्त प्रकाश छोड़ते हुए हकार (हँ) का चिन्तन करना। उसके बाद विद्युत् की तरह वेगवान और सैकडों चिनगारियों और ज्वालाओं से युक्त 'हँ' का सूर्यनाड़ी के मार्ग से रेचन (बाहर निकाल) करके आकाशतल तक ऊपर पहुंचाना। इस तरह आकाश में पहुंचाकर अमृत से भिगोकर धीरे-धीरे उतारकर, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और शान्त बने हुए 'हँ' को चन्द्रनाड़ी के मार्ग से प्रवेश करवाकर नाभिकमल में प्रविष्ट कराना चाहिए। इस प्रकार उक्त मार्ग से प्रवेश और निगमन का सतत महाभ्यास करते-करते साधक नाड़ीशुद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥२५८-२६१॥

नाडी शुद्धाविति प्राज्ञः, सम्पन्नाभ्यासकौशलः ।
स्वेच्छया घटयेद् वायुं, पुटयोस्तत्क्षणादपि ॥२६२॥

अर्थ – इस प्रकार नाडी-शुद्धि के अभ्यास में कुशलता-प्राप्त विचक्षण पुरुष अपनी इच्छानुसार वायु को एक नासापुट (नाडी) से दूसरे नासापुट (नाडी) में तत्काल अदल बदल कर सकता है ॥२६२॥

द्वे एव घटिके सार्धे, एकस्यामवतिष्ठते ।
तामुत्सृज्यापरां नाड़ीमधितिष्ठति मारुतः ॥२६३॥
षट्शताभ्याधिकान्याहुः सहस्त्राण्येकविंशतिम् ।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे, प्राणवायोर्गमागमम् ॥२६४॥

अर्थ – एक नाड़ी में वायु ढाई घड़ी-(एक घण्टा) तक बहती है, उसके बाद उस नाड़ी को छोड़कर दूसरी नाड़ी में बहने लगती है। इस प्रकार परिवर्तन होता है। एक स्वस्थ पुरुष में एक रात-दिन में २१६०० प्राणवायु का गमागम (श्वासोच्छ्वास) होता है ॥२६३-२६४॥

मुग्धधीर्यः समीरस्य, सङ्क्रान्तिमपि वेत्ति न ।
तत्त्वनिर्णयवार्तां स कथं कर्तुं प्रवर्तते ? ॥२६५॥

अर्थ – मुग्ध या अल्प बुद्धि वाला जो पुरुष वायु के संचार को भी नहीं जानता, वह तत्त्वनिर्णय की बात करने में कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? तत्त्वनिर्णय के लिए वायु-संक्रमण को जानना अत्यन्त आवश्यक है ॥२६५॥

पूरितं पूरकेणाधोमुखं हृत्पद्ममुन्मिषेत् ।
ऊर्ध्वस्त्रोतो भवेत् तच्च, कुम्भकेन प्रबोधितम् ॥२६६॥
आक्षिप्य रेचकेनाऽथ, कर्षेद् वायुं हृदम्बुजात् ।
ऊर्ध्वस्त्रोतः पथग्रंथिं, भित्त्वा ब्रह्मपुरं नयेत् ॥२६७॥
ब्रह्मरन्ध्रात् निष्क्रमय्य योगी कृतकुतूहलः ।
समाधितोऽर्कतूलेषु, वेधं कुर्याच्छनैः शनैः ॥२६८॥
मुहुस्तत्र कृताभ्यासो, मालतीमुकुलादिषु ।
स्थिर-लक्ष्यतया वेधं, सदा कुर्यादतन्द्रितः ॥२६९॥
दृढाभ्यासस्तत कुर्याद् वेधं वरूणवायुना ।
कर्पूरागुरुकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु, सर्वतः ॥२७०॥

एतेषु लब्धलक्ष्योऽथ, वायुसंयोजने पटुः ।
पक्षिकायेषु सूक्ष्मेषु, विदध्याद्वेधमुद्यतः ॥२७१॥
पतङ्ग-भृङ्ग-कायेषु, जाताभ्यासो मृगेष्वपि ।
अनन्यमानसो धीरः सञ्चरेद् विजितेन्द्रियः ॥२७२॥
नराश्वकरिकायेषु, प्रविशन् निःसरन्निति ।
कुर्वीत सङ्क्रमं पुस्तोपलरूपेष्वपि क्रमात् ॥२७३॥

अर्थ – पूरकक्रिया के द्वारा जब वायु भीतर ग्रहण की जाती है, तब हृदयकमल अधोमुख होता है और संकुचित हो जाता है। उसी हृदयकमल में कुम्भक करने से वह विकसित और ऊर्ध्वमुख हो जाता है, उसके बाद हृदय-कमल की वायु को रेचक क्रिया द्वारा खींचे। इस रेचक क्रिया द्वारा वायु को बाहर न निकले, अपितु ऊर्ध्वस्त्रोत बनाकर मार्ग में ग्रंथि को भेदकर ब्रह्मरन्ध में ले जाये। यहाँ समाधि प्राप्त हो सकती है। कौतुक-(चमत्कार) करने या देखने की इच्छा हो तो योगियों को उस पवन को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकालकर, समाधि के साथ आक की रूई में धीरे-धीरे वेध करना चाहिए अर्थात् पवन को उस रूई पर छोड़ना चाहिए। आक की रूई पर बार-बार अभ्यास करने से अर्थात् पवन को बार-बार ब्रह्मरन्ध्र पर और बार-बार रूई पर लाने का अभ्यास जब परिपूर्ण हो जाये, तब योगी को स्थिरता के साथ मालती, चमेली आदि पुष्पों को लक्ष्य बनाकर सावधानी से उस पर पवन को छोड़ना चाहिए। इस तरह हमेशा अभ्यास करते-करते जब अभ्यास दृढ़ हो जाये और वरुणवायु चल रहा हो तब कपूर, अगर

और कुष्ठ आदि सुगन्धित द्रव्यों में पवन को वेध करना-(छोड़ना) चाहिए। इस प्रकार सबमें वेध करने में जब सफलता प्राप्त हो जाये और ऊपर कहे हुए सर्व-संयोजनों में वायु छोड़ने में कुशलता प्राप्त हो जाये, तब छोटे-छोटे पक्षियों के मृत शरीर में वेध करने का प्रयत्न करना चाहिए। पतंगा, भौंरा आदि के मृत शरीर में वेध करने का अभ्यास करने के बाद हिरन आदि के विषय में भी अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। फिर एकाग्रचित्त धीर एवं जितेन्द्र होकर योगी को मनुष्य, घोड़ा, हाथी आदि के मृतशरीरों में प्रवेश और निर्गम करते हुए अनुक्रम से पाषाणमूर्ति, पुतली, देवप्रतिमा आदि में भी प्रवेश करना चाहिए ॥२६६-२७३॥

एवं परासु-देहेषु, प्रविशेद् वामनासया ।
जीवदेहप्रवेशस्तु नोच्यते पापशङ्कया ॥२७४॥

अर्थ - इस प्रकार मृत-जीवों के शरीर में बायीं नासिका से प्रवेश करना चाहिए। दूसरे के प्राणनाश होने के भय से पाप की शंका से जीवित देह में प्रवेश करने का कथन नहीं कर रहे है ॥२७४॥

क्रमेणैवं परपुरप्रवेशाभ्यासशक्तितः ।
विमुक्त इव निर्लेपः स्वेच्छया सञ्चरेत्सुधीः ॥२७५॥

अर्थ - इस प्रकार बुद्धिमान योगी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट करने की अभ्यासशक्ति उत्पन्न होने के कारण मुक्तपुरुष के समान निर्लेप होकर अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं ॥२७५॥

६. षष्ठम प्रकाश

इह चायं परपुर-प्रवेशश्चित्रमात्रकृत् ।
सिद्ध्येन्न वा प्रयासेन, कालेन महताऽपि हि ॥१॥
जित्वाऽपि पवनं नानाकरणैः क्लेशकारणैः ।
नाडी-प्रचारमायत्तं, विधायाऽपि वपुर्गतम् ॥२॥
अश्रद्धेयं परपुरे, साधयित्वाऽपि सङ्क्रमम् ।
विज्ञानैकप्रसक्तस्य, मोक्षमार्गो न सिध्यति ॥३॥

अर्थ - यहाँ पर परकाया में प्रवेश करने की जो विधि कही है, वह केवल आश्चर्य-(कुतूहल) जनक ही है, उसमें अंशमात्र भी परमार्थ नहीं है और उसकी सिद्धि भी बहुत लम्बे काल तक महान् प्रयास करने से होती है और कदाचित् नहीं भी होती। इसलिए मुक्ति के अभिलाषी को ऐसा प्रयास करना उचित नहीं है। क्लेश के कारणभूत अनेक प्रकार के आसनों आदि से शरीर में रहे हुए वायु को जीतकर भी, शरीर के अन्तर्गत नाड़ी-संचार को अपने अधीन करके भी और जिस पर दूसरे श्रद्धा भी नहीं कर सकते हैं, उस परकाया-प्रवेश में सिद्धि प्राप्त करने की कार्यसिद्धि करके जो पापयुक्त-विज्ञान में आसक्त रहता है, वह मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं कर सकता है ॥१०३॥

तन्नाप्नोति मनः-स्वास्थ्यं, प्राणायामैः कदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीड़ा, तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः ॥४॥

पूरणे कुम्भने चैव, रेचने च परिश्रमः ।
चित्त-सङ्क्लेश करणात्, मुक्तेः प्रत्यूहकारणम् ॥५॥

अर्थ - प्राणायाम से पीड़ित मन स्वस्थ नहीं हो सकता, क्योंकि प्राण का निग्रह करने से शरीर में पीड़ा होती है। पूरक, कुम्भक और रेचक-क्रिया करने में परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम करने से मन में सङ्क्लेश होता है। अतः चित्त में सङ्क्लेश कारक होने से प्राणायाम मुक्ति में विघ्नकारक है ॥४-५॥

इन्द्रियैः सममाकृष्य, विषयेभ्यः, प्रशान्तधीः ।
धर्मध्यानकृते तस्मात् मनः कुर्वीत निश्चलम् ॥६॥

अर्थ - प्रशान्त-बुद्धि साधक शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श रूप पाँचों विषयों से इन्द्रियों के साथ मन को हटाकर धर्मध्यान के लिए अपने मन को निश्चल करे ॥६॥

नाभि-हृदय-नासाग्रभाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः ।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति, ध्यान-स्थानान्यकीर्तयन् ॥७॥

अर्थ - नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रूकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक, ये सब ध्यान करने के लिए धारण के स्थान बताये हैं ॥७॥

एषामेकत्र कुत्रापि, स्थाने स्थापयतो मनः ।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्बहवः प्रत्ययाः किल ॥८॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर अधिक समय तक मन को स्थापित करने से निश्चय ही स्वानुभवज्ञान के अनेक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ॥८॥

७. सप्तम प्रकाश

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं, ध्याता ध्येयं तथा फलम् ।
सिध्यन्ति न हि सामग्रीं विना कार्याणि कर्हिचित् ॥१॥

अर्थ - ध्यान करना चाहने वाले को ध्याता, ध्येय तथा फल जानना चाहिए। क्योंकि सामग्री के बिना कार्य की सिद्धि कदापि नहीं होती है ॥१॥

अमुञ्चन् प्राणनाशेऽपि, संयमैकधुरीणताम् ।
परमप्यात्मवत् पश्यन्, स्वस्वरूपापरिच्युतः ॥२॥

अर्थ - जो प्राणों के नाश का समय उपस्थित होने पर भी संयम-धुरा के भार का त्याग नहीं करता, दूसरे जीवों को आत्मवत् देखता है, वह अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता, अपने लक्ष्य पर अटल रहता है ॥२॥

उपतापमसम्प्राप्तः, शीतवातातपादिभिः ।
पिपासुरमरीकारि, योगामृतरसायनम् ॥३॥

अर्थ - जो सर्दी, गर्मी और वायु में खिन्न नहीं होता, वह अजर-अमर करने वाले, योगामृत-रसायन का पिपासु है ॥३॥

रागादिभिरनाक्रान्तं क्रोधादिभिरदूषितम् ।
आत्मारामं मनः कुर्वन्, निर्लेपः सर्वकर्मसु ॥४॥

अर्थ - राग-द्वेष-मोह आदि दोष जिस पर हावी नहीं है, क्रोध आदि कषायों से जो अदूषित है, मन को जो आत्माराम में रमण कराता है, और समस्त कार्यों में अलिप्त रहता है ॥४॥

विरतः कामभोगेभ्यः, स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
संवेगहृदनिर्मग्नः, सर्वत्र समतां श्रयन् ॥५॥

अर्थ - कामभोगों से विरक्त रहता है, अपने शरीर के प्रति भी निःस्पृह रहता है, संवेग रूपी सरोवर में भलीभांति डूबा रहता है, शत्रु और मित्र में, सोने और पाषाण में, निंदा और स्तुति में, मान एवं अपमान आदि में सर्वत्र समभाव रखता है ॥५॥

नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा, तुल्यकल्याणकामनः ।
अमात्रकरुणापात्रं, भव-सौख्य-पराङ्मुखः ॥६॥

अर्थ - राजा और रंक दोनों पर एकसरीखी कल्याण-कामना रखता है । सर्वजीवों के प्रति जो करुणा-शील है, सांसारिक सुखों से विमुख है ॥६॥

सुमेरुरिव निष्प्रकम्पः, शशीवानन्ददायकः ।
समीर इव निःसङ्गः, सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥७॥

अर्थ - परीषह और उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह निष्कम्प रहता है, जो चन्द्रमा के समान आनन्ददायी है और वायु की भांति निःसंग-(अनासक्त, अप्रतिबद्धविहारी) है, वही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध ध्याता ध्यान करने योग्य हो सकता है ॥७॥

पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं, रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥८॥

अर्थ - बुद्धिमान पुरुषों ने ध्यान का आलम्बन स्वरूप

ध्येय चार प्रकार का माना है - १. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत ॥८॥

पार्थिवी स्यादथाग्नेयी, मारुती वारुणी तथा ।
तत्त्वभूः पञ्चमी चेति, पिण्डस्थे पञ्च धारणा ॥९॥

अर्थ - पिण्डस्थ ध्येय में पाँच धारणाएँ होती है, १. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. मारुती, ४. वारुणी और ५. तत्त्वभू ॥९॥

तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत्, क्षीराब्धिं तत्र चाम्बुजम् ।
सहस्रपत्रं स्वर्णाभं, जम्बूद्वीपसमं स्मरेत् ॥१०॥
तत्केसरततेरन्तः, स्फुरत्पिङ्गप्रभाञ्चिताम् ।
स्वर्णाचलप्रमाणां च, कर्णिकां परिचिन्तयेत् ॥११॥
श्वेतसिंहासनासीनं, कर्मनिर्मूलनोद्यतम् ।
आत्मानं चिन्तयेत् तत्र, पार्थिवीधारणेत्यसौ ॥१२॥

अर्थ - एक रज्जु-प्रमाण विस्तृत तिर्यग्लोक है । इसके बराबर लम्बे-चौड़े क्षीर-समुद्र का चिन्तन करना, उसमें एक लाख योजन जम्बूद्वीप के समान स्वर्ण-कान्ति-युक्त एक हजार पंखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए । उस कमल के मध्यभाग में केसराएँ हैं और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त और सुमेरुपर्वत के समान एक लाख ओजन ऊँची कर्णिका-(पीठिका) का चिन्तन करना । उस कर्णिका पर एक उज्जवल सिंहासन है, जिस पर बैठकर कर्मों का समूल उन्मूलन करने में उद्यत अपने

शान्त आत्मा का चिन्तन करना चाहिए । इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी-धारणा' कहते हैं ॥१०-१२॥

विचिन्तयेत्तथा नाभौ, कमलं षोडशच्छदम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं, प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥१३॥
रेफबिन्दुकलाक्रान्तं, महामन्त्रे यदक्षरम् ।
तस्य रेफाद् विनिर्यान्तीं, शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ॥१४॥
स्फुलिङ्गसन्ततिं ध्यायेत्, ज्वालामालामनन्तरम् ।
ततो ज्वालाकलापेन, दहत् पद्मं हृदि स्थितम् ॥१५॥
तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थः प्रबलानलः ॥१६॥
ततो देहाद् बहिर्ध्यायेत् त्र्यस्रं वह्निपुरं ज्वलत् ।
लाञ्छितं स्वस्तिकेनान्ते, वह्निबीजसमन्वितम् ॥१७॥
देहं पद्मं च मन्त्रार्चिरन्तर्वह्निपुरं बहिः ।
कृत्वाऽऽशु भस्मसाच्छाम्येत्, स्यादाग्नेयीति धारणा ॥१८॥

अर्थ - तथा नाभि के अन्दर सोलह पंखूडी वाले कमल का चिन्तन करना । उसकी कर्णिका में महामन्त्र 'अर्हं' की स्थापना करना और उसकी प्रत्येक पंखुडी पर क्रमशः 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए ऐ, ओ, औ, अं, अः' इन सोलह स्वरों की स्थापना करनी चाहिए । उसके बाद रेफ, बिन्दु और कला से युक्त, महामन्त्र के 'हँ' अक्षर है, उस रेफ में से धीरे-धीरे निकलने वाली धूम-शिखा का चिन्तन करना चाहिए, फिर उसमें से अग्नि की

चिनगारियों के निकलने का चिन्तन करना । बाद में निकलती हुई अनेक अग्नि-ज्वालाओं का चिन्तन करना । उसके बाद इन ज्वालाओं से हृदय में स्थित आठ पंखुड़ी-(दल) वाले कमल का चिन्तन करना, उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर अनुक्रम से १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अंतराय, इन आठ क्रमों की स्थापना करनी चाहिए । यह कमल अधोमुख होना चाहिए । 'अर्हं' महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई महाप्रबन्ध रूप अग्नि अष्ट-कर्म रूपी अधोमुखी कमल को जला देती है, ऐसा चिन्तन करना । उसके बाद शरीर के बाहर त्रिकोण (तिकोन) अग्निकुण्ड और स्वस्तिक के चिह्न-युक्त अग्निबीज 'रकार' सहित चिन्तन करना । तत्पश्चात् शरीर के भीतर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई अग्निज्वाला और बाहर की अग्निकुण्ड की ज्वाला से देह और आठ कर्मों के कमल को तत्काल भस्म करके अपने आप अग्नि को शान्त कर देना चाहिए । यह आग्नेयी धारणा है । महामन्त्र सिद्धचक्र में स्थित बीज रूप 'अर्हं' जानना ॥१३-१८॥

ततस्त्रिभुवनाभोगं, पूरयन्तं समीरणम् ।
चालयन्तं गिरीनब्धीन्, क्षोभयन्तं विचिन्तयेत् ॥१९॥
तच्च भस्मरजस्तेन, शीघ्रमुद्धूय वायुना ।
दृढाभ्यासः प्रशान्तिं तमानयेदिति मारुती ॥२०॥

अर्थ – उसके बाद समग्र तीन भवन के विस्तार को पूरित कर देने वाले पर्वतों को चलायमान करते हुए और समुद्र को क्षुब्ध करते हुए प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना और आग्नेयी धारणा में शरीर और आठ कर्मों को जलाने से जो राख बनी थी, उसे वायु से शीघ्र उड़ाने का चिन्तन करे अर्थात् प्रचण्ड पवन चल रहा है और देह तथा कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास करके उस वायु को शान्त करना। यह वायवी नाम की तीसरी धारणा है ॥१९-२०॥

स्मरेद् वर्षत्सुधासारैः, घनमालाकुलं नभः ।
ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं, मण्डलं वरुणाङ्कितम् ॥२१॥
नभस्तलं सुधाम्भोभिः, प्लावयेत्तत्पुरं ततः ।
तद्रजः कायसम्भूतं, क्षालयेदिति वारुणी ॥२२॥

अर्थ – वारुणी-धारणा में अमृत के समान वृष्टि बरसाने वाले और मेघ की मालाओं से व्याप्त आकाश का चिन्तन करे। फिर अर्धचन्द्राकार बिन्दुयुक्त वरु बीज 'वं' का चिन्तन करना। अपने सामने उस वरुणबीज से उत्पन्न हुए अमृतसम जल से आकाश को भर दे। और पहले शरीर और कर्मों की जो राख उड़ गयी थी, वह इस जल से धुलकर साफ हो रही है, ऐसा चिन्तन करना। फिर

वारुणमण्डल को शान्त करना। यह वारुणी धारणा है ॥२१-२२॥

सप्तधातु-विनाभूतं, पूर्णेन्दु विशदद्युतिम् ।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं, शुद्धबुद्धिः स्मरेत् ततः ॥२३॥
ततः सिंहासनारूढं, सर्वातिशयभासुरम् ।
विध्वस्ताशेषकर्माणं, कल्याणमहिमान्वितम् ॥२४॥
स्वाङ्गगर्भे निराकारं, संस्मरेदिति तत्वभूः ।
साभ्यास इति पिण्डस्थे, योगी शिवसुखं भजेत् ॥२५॥

अर्थ – चार धारणाओं का चिन्तन करने के बाद शुद्ध बुद्धि वाले योगी पुरुष को सप्तधातुरहित पूर्णचन्द्र के समान निर्मल कान्ति वाले सर्वज्ञसदृश अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। उसके बाद सिंहासन पर आरूढ़ होकर समस्त अतिशयों से सुशोभित समस्त कर्मों के विनाशक कल्याणकारी महिमा से सम्पन्न, अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करना चाहिए, यह तत्त्वभू नामक धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास हो जाने पर योगी मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है ॥२३-२५॥

अश्रान्तमिति पिण्डस्थे, कृताभ्यासस्य योगिनः ।
प्रभवन्ति न दुर्विद्यामन्त्रमण्डलशक्तयः ॥२६॥

शाकिन्यः क्षुद्रयोगिन्यः, पिशाचाः पिशिताशनाः ।
त्रस्यन्ति तत्क्षणादेव, तस्य तेजोऽसहिष्णवः ॥२७॥
दुष्टाः करटिनः सिंहाः, शरभाः पन्नगा अपि ।
जिघांसवोऽपि तिष्ठन्ति, स्तम्भिता इव दूरतः ॥२८॥

अर्थ – इस तरह बिना थके पिण्डस्थ-ध्यान का अभ्यास करने वाले योगी पुरुष की, दुष्ट विद्याएँ=उच्चाटन, मारण, स्तम्भन, विद्वेषण, मन्त्रमण्डल, शक्तियाँ आदि कुछ भी हानि नहीं कर सकती । शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मांसभक्षी दुष्ट व्यक्ति उसके तेज को सहन नहीं कर सकते । वे स्वयं तत्काल ही त्रस्त हो जाते हैं । मारना चाहने वाले दुष्ट, हाथी, सिंह, शरभ, सर्प आदि हिंस्र जीव भी दूर से ही स्तम्भित हो (ठिठक) कर खड़े रहते हैं ॥२६-२८॥

•••

८. अष्टम प्रकाश

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।
तत्पदस्थं समाख्यातं, ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ॥१॥

अर्थ – प्रभावशाली मन्त्राक्षर आदि पवित्र पदों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुषों ने पदस्थध्यान कहा है ॥१॥

तत्र षोडशपत्राढ्ये नाभिकन्दगतेऽम्बुजे ।
स्वरमालां यथापत्रं, भ्रमन्तीं परिचिन्तयत् ॥२॥
चतुर्विंशतिपत्रं च, हृदि पद्मं सकर्णिकम् ।
वर्णान् यथाक्रमं तत्र चिन्तयेत् पञ्चविंशतिम् ॥३॥
वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत्ततः स्मरेत् ।
संस्मरन् मातृकामेवं, स्यात् श्रुतज्ञानपारगः ॥४॥

अर्थ – इस ध्यान में नाभिकन्द पर स्थित सोलह पंखुड़ियों वाले प्रथम कमल में प्रत्येक पत्र पर क्रमशः सोलह स्वरों 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' की भ्रमण करती हुई पंक्ति का चिन्तन करना चाहिए । फिर हृदय में स्थित कर्णिकासहित कमल की चौबीस पंखुड़ियों (दलों) पर 'क, ख, ग, घ, ङ च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म' इन पच्चीस व्यंजनों का चिन्तन करना चाहिए । (इनमें से चौबीस व्यंजनों को चौबीस पंखुड़ियों में और 'मकार' को कर्णिका में रखकर चिन्तन करना) तथा तीसरे

आठ पंखुड़ी वाले कमल की मुख में कल्पना करनी, उसमें शेष आठ व्यंजनों – य, र, ल, व, श, ष, स, ह का चिन्तन करना। इस प्रकार मातृका (वर्णमाला) का चिन्तन-ध्यान करने वाला योगी श्रुतज्ञान का पारगामी होता है ॥२-४॥

ध्यायतोऽनादिसंसिद्धान्, वर्णानेतान् यथाविधि ।
नष्टादिविषये ज्ञानं, ध्यातुरुत्पद्यते क्षणात् ॥५॥

अर्थ – अनादिकाल से स्वत:सिद्ध इन वर्णों का विधिपूर्वक ध्यान करने वाले ध्याता को थोडे ही समय में नष्ट हुए, विस्मृत हुए, गुम हुए व खोये हुए पदार्थों के विषय में भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन ज्ञान क्षणभर में उत्पन्न हो जाता है ॥५॥

अथवा नाभिकन्दाधः, पद्ममष्टदलं स्मरेत् ।
स्वरालीकेसरं रम्यं, वर्गाष्टकयुतैर्दलैः ॥६॥
दलसन्धिषु सर्वेषु, सिद्धस्तुतिविराजितम् ।
दलाग्रेषु समग्रेषु, मायाप्रणवपावितम् ॥७॥
तस्यान्तरन्तिमं वर्णम्, आद्यवर्णपुरस्कृतम् ।
रेफाक्रान्तं कलाबिन्दुरम्यं प्रालेय निर्मलम् ॥८॥
अर्हमित्यक्षरं प्राण-प्रान्तसंस्पर्शिपावनम् ।
ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं ततः परम् ॥९॥
ग्रन्थीन् विदारयन्, नाभि-कण्ठ-हृद-घण्टिकादिकान् ।
सुसूक्ष्मध्वनिना मध्य-मार्गयायि स्मरेत् ततः ॥१०॥
अथ तस्यान्तरात्मानं, प्लाव्यमानं विचिन्तयेत् ।
बिन्दुतप्तकलानिर्यत्क्षीर-गौरामृतोर्मिभिः ॥११॥

ततः सुधारसः-सूत-षोडशाब्जदलोदरे ।
आत्मानं न्यस्य पत्रेषु, विद्यादेवींश्च षोडश ॥१२॥
स्फुरत्स्फटिकभृङ्गार-क्षरत्-क्षीरसितामृतैः ।
आभिराप्लाव्यमानं स्वं चिरं चित्ते विचिन्तयेत् ॥१३॥
अथास्य मन्त्रराजस्याभिधेयं परमेष्ठिनम् ।
अर्हन्तं मूर्धनि ध्यायेत्, शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥१४॥
तद्ध्यानावेशतः 'सोऽहं', 'सोऽहम्' इत्यालपन् मुहुः ।
निःशङ्कमेकतां विद्यादात्मनः परमात्मना ॥१५॥
ततो नीरागमद्वेषममोहं सर्वदर्शिनम् ।
सुरार्च्यं समवसृतौ, कुर्वाणं धर्मदेशनाम् ॥१६॥
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थम्, अभिन्नं परमात्मना ।
लभते परमात्मत्वं, ध्यानी निर्धूत-कल्मषः ॥१७॥

अर्थ – अथवा नाभिकन्द के नीचे आठ पंखुड़ी वाले एक कमल का चिन्तन करना। इस कमल की आठ पंखुड़ियों में से प्रथम पंखुड़ी पर मनोहर केसराओं रूप सोलह स्वरावली का चिन्तन करना, शेष सात पंखुड़ियों में क्रमशः सात वर्गों की स्थापना करना। यह इस प्रकार – १. क, ख, ग, घ, ङ; २. च, छ, ज, झ, ञ, ३. ट, ठ, ड, ढ, ण, ४. त, थ, द, ध, न, ५. प, फ, ब, भ, म, ६. य, र, ल, व, ७. श, ष, स, ह। इन आठों पंखुड़ियों की संधियों में ह्रीं-कार-रूप सिद्धस्तुति की स्थापना करना और सभी पंखुड़ियों के अग्रभाग में 'ॐ ह्रीं' स्थापित करना। उस

कमल के मध्यभाग में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' रेफ ॅ कला और बिन्दु ं सहित हिम के समान उज्ज्वल अर्हं की स्थापना करनी चाहिए। इस 'अर्हं' का मन में स्मरण आत्मा को पवित्र करता है। अर्हं शब्द का उच्चारण प्रथम मन में ह्रस्वनाद से करना चाहिए। बाद में दीर्घ, फिर प्लुत, फिर सूक्ष्म और अतिसूक्ष्मनाद से उच्चारण करना चाहिए। तदनन्तर वह नाद नाभि, हृदय और कण्ठ की घण्टिकादि गांठों को भेदता हुआ उन सब के बीच में से होकर आगे चला जा रहा है, ऐसा चिन्तन करे। उसके बाद यह चिन्तन करे कि उस नादबिन्दु से तपी हुई कला में से निकलने वाले दूध के समान उज्ज्वल अमृत की तरंगों से अन्तरात्मा प्लावित हो रही है। फिर अमृत के एक सरोवर की कल्पना करे और उस सरोवर से उत्पन्न हुए सोलह पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करे। बाद में देदीप्यमान स्फटिकरत्न की झारी में से झरते हुए दूध के सदृश उज्ज्वल अमृत से अपने को दीर्घकाल तक सिंचित होते हुए मन में चिन्तन करे। उसके बाद शुद्ध स्फटिकरत्न के समान निर्मल, मन्त्रराज के प्रथम अभिधेय पद 'अर्हत्' परमेष्ठी का मस्तक में ध्यान करे। यह ध्यान इतना प्रबल और प्रगाढ़ होना चाहिए कि इसके चिन्तन के कारण बार-बार सोऽहं सोऽहं (अर्थात् जो वीतराग है, वही मैं हूं) इस प्रकार की अन्तर्ध्वनि करता हुआ ध्याता निःशंकभाव से आत्मा और

परमात्मा की एकरूपता का अनुभव करे। तदनन्तर वह वीतराग, वीतद्वेष, निर्मोह, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, देवों से पूज्य, समवसरण में स्थित होकर धर्मदेशना करते हुए परमात्मा को अपना अभिन्न रूप मानकर ध्यान करे। इस तरह का ध्यान करने वाला ध्याता समस्त पापकर्मो का नाश करके परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है ॥१६-१७॥

यद्वा मन्त्राधिपं धीमानूर्ध्वाधो-रेफसंयुतम् ।
कलाबिन्दुसमाक्रान्तम्, अनाहतयुतं तथा ॥१८॥
कनकाम्भोजगर्भस्थं, सान्द्रचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
गगने सञ्चरन्तं च, व्याप्नुवन्तं दिशः स्मरेत् ॥१९॥
ततो विशन्तं वक्त्राब्जे, भ्रमन्तं भ्रूलतान्तरे ।
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु, तिष्ठन्तं भालमण्डले ॥२०॥
निर्यान्तं तालुरन्ध्रेण, स्रवन्तं च सुधारसम् ।
स्पर्धमानं शशाङ्केन, स्फुरन्तं ज्योतिरन्तरे ॥२१॥
सञ्चरन्तं नभोभागे, योजयन्तं शिवश्रिया ।
सर्वावयवसम्पूर्णं, कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥२२॥

अर्थ - अथवा बुद्धिमान ध्याता स्वर्णकमल के गर्भ में स्थित, चन्द्रमा की सघन किरणों के समान निर्मल, आकाश में संचरण करते हुए और समस्त दिशाओं में फैलते हुए रेफ से युक्त, कला और बिन्दु से घिरे हुए अनाहत-सहित मन्त्राधिप अर्हं का चिन्तन करे। उसके बाद मुखकमल में प्रवेश करते हुए, भ्रूलता में भ्रमण करते हुए, नेत्रपत्रों में

स्फुरायमान होते हुए, भालमण्डल में स्थित, तालु के रन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत-रस बरसाते हुए, उज्ज्वलता में चन्द्रमा के प्रतिस्पर्धी, ज्योतिर्मण्डल में विशेष प्रकार से चमकते हुए, आकाश-प्रदेश में संचार करते हुए और मोक्षलक्ष्मी के साथ मिलाप कराते हुए समस्त अवयवों से परिपूर्ण 'अर्हं' मन्त्राधिराज का बुद्धिमान योगी को कुम्भक के द्वारा चिन्तन करना चाहिए ॥१८-२२॥

अकारादि हकारान्तं, रेफमध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परमं तत्त्वं, यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२३॥

अर्थ - ''अ'' जिसकी शुरूआत (आदि) में है और ''ह'' जिसके अन्त में है, और रेफ जिसके मध्यमें है, और जो बिंदु से युक्त है, (अर्हं) वही परमतत्व है । उसे जो जानता है, वही तत्त्वज्ञ है ॥२३॥

महातत्त्वमिदं योगी, यदैव ध्यायति स्थिरः ।
तदैवानन्दसम्पद्भूः, मुक्तिश्रीरुपतिष्ठते ॥२४॥

अर्थ - जो योगी चित्त को स्थिर करके इस महातत्त्व-स्वपूर 'अर्हं' का ध्यान करता है, उसके पास उसी समय आनन्द रूपी संपद्भूमि के समान मोक्ष-लक्ष्मी हाजिर हो जाती है ॥२४॥

रेफ-बिन्दु-कलाहीनं शुभ्रं, ध्यायेत्ततोऽक्षरम् ।
ततोऽनरक्षरतां प्राप्तमनुच्चार्य विचिन्तयेत् ॥२५॥

अर्थ - उसके बाद रेफ, बिन्दु और कला से रहित उज्ज्वल 'ह' वर्ण का ध्यान करे। उसके बाद वह 'ह' अक्षर

मानो अनक्षर बन गया हो, इस रूप में मुख से उच्चारण किये बिना ही चिन्तन करे ॥२५॥

निशाकर-कलाकारं, सूक्ष्मं भास्करभास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं, विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥२६॥

अर्थ - दूज के चन्द्रमा की कला के आकार सदृश सूक्ष्म एवं सूर्य के समान देदीप्यमान अनाहत नामक देव को अनुच्चार्य मानकर अनक्षर की आकृति को प्राप्त उस स्फुरायमान 'ह' वर्ण का चिन्तन करना चाहिए ॥२६॥

तदेव च क्रमात् सूक्ष्मं, ध्यायेद् वालाग्रसन्निभम् ।
क्षणमव्यक्तमीक्षेत, जगज्ज्योतिर्मयं ततः ॥२७॥

अर्थ - उसके बाद उसी अनाहत 'ह' का बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्म रूप में चिन्तन करे, फिर थोड़ी देर तक जगत को अव्यक्त, निराकार और ज्योतिर्मय स्वरूप में देखे ॥२७॥

प्रच्याव्य मानसं लक्ष्याद्, अलक्ष्ये दधतः स्थिरम् ।
ज्योतिरक्षयमत्यक्षमन्तरुन्मीलति क्रमात् ॥२८॥

अर्थ - फिर लक्ष्य से मन को धीरे-धीरे हटाकर अलक्ष्य में स्थिर करने पर अन्दर एक ऐसी ज्योति उत्पन्न होती है, जो अक्षय और इन्द्रियों से अगोचर होती है, वह क्रमशः अन्तर को खोल देती है ॥२८॥

इति लक्ष्यं समालम्ब्य लक्ष्याभावः प्रकाशितः ।
निषण्णमनसस्तत्र, सिध्यत्यभिमतं मुनेः ॥२९॥

अर्थ - इस प्रकार लक्ष्य का आलम्बन लेकर

निरालम्ब-स्वरूप लक्ष्याभाव को प्रकाशित किया है । अलक्ष्य में मन को स्थापित करने वाले मुनि का मनोवांछित फल सिद्ध हो जाता है ॥२९॥

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं, शब्दब्रह्मैककारणम् ।
स्वरव्यञ्जनसंवीतं वाचकं परमेष्ठिनः ॥३०॥
मूर्धसंस्थित-शीतांशु-कलामृतरसप्लुतम् ।
कुम्भकेन महामन्त्रं, प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥३१॥

अर्थ - तथा हृदयकमल के मध्य में स्थित (वचन-विलास स्वरूप) शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति के एकमात्र कारण, स्वर और व्यंजनों से युक्त पंचपरमेष्ठी के वाचक एवं मस्तक में स्थित चन्द्रकला से निकलते हुए अमृतरस से तरबतर महामन्त्र ॐकार (प्रणव) का कुम्भक (श्वासोच्छ्वास को रोक) करके ध्यान करना चाहिए ॥३०-३१॥

पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम् ॥३२॥

अर्थ - स्तम्भन-कार्य करने में पीले ॐकार का, वशीकरण में लाल वर्ण का, क्षोभणकार्य में मूंग के रंग का, विद्वेषण-कार्य में काले वर्ण का और कर्मों का नाश करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्वेत-वर्ण के ॐकार का ध्यान करना चाहिए ॥३२॥

तथा पुण्यतमं मन्त्रं, जगत् त्रितयपावनम् ।
योगी पञ्चपरमेष्ठि-नमस्कारं विचिन्तयेत् ॥३३॥

अर्थ - तथा तीन जगत् को पवित्र करने वाले महान् पुण्यतम पंचपरमेष्ठि-नमस्कार मन्त्र का ध्यान ही विशेष रूप से योगी को करना चाहिए ॥३३॥

अष्टपत्रे सिताम्भोजे, कर्णिकायां कृतस्थितिम् ।
आद्यं सप्ताक्षरं मन्त्रं, पवित्रं चिन्तयेत् ततः ॥३४॥

अर्थ - आठ पंखुडी वाले सफेद कमल का चिन्तन करके उसकी कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले पवित्र 'नमो अरिहंताणं' मन्त्र का चिन्तन करना चाहिए ॥३४॥

सिद्धादिकचतुष्कं च, दिक्पत्रेषु यथाक्रमम् ।
चूला-पादचतुष्कं च, विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत् ॥३५॥

अर्थ - फिर सिद्धादिक चार मन्त्रदों का अनुक्रम से चार दिशाओं की पंखुडियों में और चूलिकाओं के चार पदों का विदिशा की पंखुड़ियों में चिन्तन करना चाहिए ॥३५॥

त्रिशुद्ध्या चिन्तयन्तस्य, शतमष्टोत्तरं मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि लभेतैव, चतुर्थतपसः फलम् ॥३६॥

अर्थ - मन, वचन और काया की शुद्धिपूर्वक एकाग्रता से एकसौ आठ बार इस महामन्त्र नमस्कार का जाप करने वाला मुनि आहार करता हुआ भी एक उपवास का फल प्राप्त करता है ॥३६॥

एनमेव महामन्त्रं, समाराध्येह योगिनः ।
त्रिलोक्येऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमां श्रियम् ॥३७॥

कृत्वा पापसहस्त्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मन्त्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥३८॥

अर्थ – योगीपुरुष इसी महामन्त्र का यहाँ अच्छी तरह आराधना करके श्रेष्ठ आत्मलक्ष्मी के अधिकारी बनकर तीन जगत् के पूजनीय बन जाते हैं । हजारों पाप किये हुए और सैकड़ों जीवों का हनन करके तिर्यंच जैसे जीव भी इस मन्त्र की सम्यग् आराधना करके स्वर्ग में पहुंच गये हैं ॥३७-३८॥

गुरुपञ्चक-नामोत्था, विद्या स्यात् षोडशाक्षरा ।
जपन् शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम् ॥३९॥

अर्थ – गुरुपंचक अर्थात् पंचपरमेष्ठी के नाम से उत्पन्न हुआ 'नमः' पद और विभक्तिरहित उनके नाम 'अरिहंत सिदध आयरिय उवज्झाय साहू' इस तरह सोलह अक्षर की विद्या का दो सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है ॥३९॥

शतानि त्रीणि षट्वर्णं, चत्वारि चतुरक्षरम् ।
पञ्चवर्णं जपन् योगी, चतुर्थफलमश्नुते ॥४०॥

अर्थ – 'अरिहंत सिद्ध' इन छह अक्षर वाली विद्या का तीन सौ बार, 'अरिहंत' इन चार अक्षरों की विद्या का चारसौ बार, अकार मन्त्र का पाँच सौ बार जप करने वाले योगी को एक एक उपवास का फल मिलता है ॥४०॥

प्रवृत्तिहेतुरेवैतद्, अमीषां कथितं फलम् ।
फलं स्वर्गापवर्गौ तु, वदन्ति परमार्थतः ॥४१॥

अर्थ – इन सब मन्त्रों के जाप का फल जो एक उपवास बतलाया है, वह बालजीवों को जाप में प्रवृत्त करने के लिए कहा है । परमार्थ रूप से तो ज्ञानी पुरुष इसका फल स्वर्ग और अपवर्ग रूप बताते हैं ॥४१॥

पञ्चवर्णमयी पञ्चतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात् ।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥४२॥

अर्थ – विद्याप्रवाद नाम के पूर्व से उद्धृत की हुई पंचवर्ण वाली पंचतत्त्व रूप 'ह्राँ, ह्रीँ, ह्रूँ, ह्रौँ, ह्रः अ सि आ उ सा नमः' विद्या के जाप का निरन्तर अभ्यास किया जाय तो वह संसार के क्लेश को मिटाती है ॥४२॥

मङ्गलोत्तमशरण-पदान्यव्यग्रमानसः ।
चतुःसमाश्रयाण्येव, स्मरन् मोक्षं प्रपद्यते ॥४३॥

अर्थ – मंगल, उत्तम और शरण इन तीनों पदों को अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म के साथ जोड़कर एकाग्रचित्त स्मरण से करने वाला ध्याता मोक्ष को प्राप्त करता है ॥४३॥

मुक्ति-सौख्यप्रदां ध्यायेद्, विद्यां पञ्चदशाक्षरीम् ।
सर्वज्ञाभं स्मरेन्मत्रं, सर्वज्ञान-प्रकाशकम् ॥४४॥

अर्थ – मुक्ति-सुखदायिनी पन्द्रह अक्षरों की विद्या 'ॐ अरिहंत-सिद्धसयोगिकेवली स्वाहा' का ध्यान करना चाहिए । तथा सम्पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करने वाले सर्वज्ञ-तुल्य 'ॐ ह्रीं श्री अर्हं नमः' नामक मन्त्र का स्मरण करना चाहिए ॥४४॥

वक्तुं न कश्चिदप्यस्य, प्रभावं सर्वतः क्षमः ।
समं भगवता साम्यं, सर्वज्ञेन बिभर्ति यः ॥४५॥

अर्थ – यह मन्त्र सर्वज्ञ भगवान् की समानता को धारण करता है । इस मन्त्र और विद्या के प्रभाव को पूरी तरह कहने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥४५॥

यदीच्छेद् भवदावाग्नेः, समुच्छेदं क्षणादपि ।
स्मरेत् तदाऽऽदिमन्त्रस्य, वर्णसप्तकमादिमम् ॥४६॥

अर्थ – यदि संसार रूपी दावानल को क्षणभर में शान्त करना चाहते हो तो, तुम्हें प्रथम मन्त्र के प्रथम सात अक्षर 'नमो अरिहंताणं' का स्मरण करना चाहिए ॥४६॥

पञ्चवर्णं स्मरेन्मन्त्रं, कर्मनिर्घातकं तथा ।
वर्णमालाञ्चितं मन्त्रं ध्यायेत् सर्वाभयप्रदम् ॥४७॥

अर्थ – आठ कर्मों का नाश करने के लिए पाँच अक्षरों वाले 'नमो सिद्धाणं' मन्त्र का तथा समस्त प्रकार का अभय प्राप्त करने के लिए वर्णमालाओं से युक्त 'ॐ नमो अर्हते केवलिने परमयोगिने विस्फुरदूरु शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्ध-कर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलवरदाय अष्टादशदोष-रहिताय स्वाहा' मन्त्र का ध्यान करना चाहिए ॥४७॥

ध्यायेत् सिताब्जं वक्त्रान्तरष्टवर्गीं दलाष्टके ।
ॐ नमो अरिहंताणं इति वर्णानपि क्रमात् ॥४८॥
केसराली-स्वरमयीं सुधाबिन्दु-विभूषिताम् ।
कर्णिकां कर्णिकायां च, चन्द्रबिम्बात् समापतत् ॥४९॥

सञ्चरमाणं वक्त्रेण, प्रभामण्डलमध्यगम् ।
सुधादीधिति-सङ्काशं, मायाबीजं विचिन्तयेत् ॥५०॥
ततो भ्रमन्तं पत्रेषु, सञ्चरन्तं नभस्तले ।
ध्वंसयन्तं मनोध्वान्तं, स्त्रवन्तं च सुधारसम् ॥५१॥
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं लसन्तं भ्रूलतान्तरे ।
त्रैलोक्याचिन्त्यमाहात्म्यं, ज्योतिर्मयमिवाद्भुतम् ॥५२॥
इत्यमुं ध्यायतो मन्त्रं, पुण्यमेकाग्रचेतसः ।
वाग्मनोमलमुक्तस्य, श्रुतज्ञानं प्रकाशते ॥५३॥
मासैः षड्भिः कृताभ्यासः, ततो ज्वालां विलोकते ।
निःसरन्तीं मुखाम्भोजात्, शिखां धूमस्य पश्यति ॥५४॥
संवत्सरं कृताभ्यासः, ततो ज्वालां विलोकते ।
ततः सञ्जातसंवेगः, सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥५५॥
स्फुरत्कल्याणमाहात्म्यं, सम्पन्नातिशयं ततः ।
भामण्डलगतं साक्षादिव सर्वज्ञमीक्षते ॥५६॥
ततः स्थिरीकृतस्वान्तः, तत्र सञ्जातनिश्चयः ।
मुक्त्वा संसारकान्तारम्, अध्यास्ते सिद्धिमन्दिरम् ॥५७॥

अर्थ – मुख के अन्दर आठ पंखुडियों वाले श्वेत-कमल का चिन्तन करे और उन पंखुडियों में आठ वर्ग- १. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, २. क, ख, ग, घ, ङ ३. च, छ, ज, झ, ञ, ४. ट, ठ, ड, ढ, ण, ५. त, थ, द, ध, न, ६. प, फ, ब, भ, म, ७. य, र, ल, व, ८. श, ष, स, ह, की क्रमशः स्थापना

करना तथा ॐ नमो अरिहताणं इन आठ अक्षरों में से एक-एक अक्षर को एक-एक पंखुडी पर स्थापित करना । उस कमल की केसरा के चारों तरफ के भागों में अ, आ आदि सोलह स्वर स्थापित करना और मध्य की कर्णिका को चन्द्रबिम्ब से गिरते हुए अमृत के बिन्दुओं से विभूषित करना । उसके बाद कर्णिका में मुख से संचार करते हुए प्रभामण्डल में स्थित और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल 'ह्रीं' मायाबीज का चिन्तन करना । तदनन्तर प्रत्येक पंखुडी पर भ्रमण करते हुए, आकाशतल में विचरण करते हुए, मन की मलिनता को नष्ट करते हुए, अमृतरस बहाते हुए, तालुरन्ध्र से जाते हुए, भ्रकुटि के मध्य में सुशोभित, तीन लोकों में अचिन्त्य महिमासम्पन्न, मानो अद्भुत ज्योतिर्मय इस पवित्र मन्त्र का एकाग्रचित्त से ध्यान करने से मन और वचन की मलीनता नष्ट हो जाती है और श्रुतज्ञान प्रकट होता है । इस तरह निरन्तर छह महीने तक अभ्यास करने से साधक का मन जब स्थिर हो जाता है, तब वह अपने मुखकमल से निकलती हुई धूम-शिखा देखता है । एक वर्ष तक ध्यान करने वाला साधक ज्वाला देखता है और उसके बाद विशेष संवेग की वृद्धि होने पर सर्वज्ञ का मुखकमल देखने में समर्थ होता है । इससे आगे बढ़कर कल्याणमय माहात्म्य से देदीप्यमान, समस्त अतिशय से सम्पन्न और प्रभामण्डल में स्थित सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष-सा देखने लगता है । बाद में सर्वज्ञ

के स्वरूप में मन स्थिर करके वह आत्मा संसार-अटवी को पारकर सिद्धि-मन्दिर में विराजमान हो जाता ॥४८-५७॥

शशिबिम्बादिवोद्भूतां, स्त्रवन्तीममृतं सदा ।
विद्यां 'क्ष्वीँ' इति भालस्थां, ध्यायेत्कल्याणकारणम् ॥५८॥

अर्थ - मानो चन्द्र के बिम्ब से समुत्पन्न हुई हो, ऐसी सदा उज्ज्वल अमृतवर्षिणी 'क्ष्वीँ नाम की विद्या को अपने ललाट में स्थापन करके साधक को कल्याण के लिए उसका ध्यान करना चाहिए' ॥५८॥

क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं, प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः ।
भाले शशिकलां ध्यायेत्, सिद्धिसोपानपद्धतिम् ॥५९॥

अर्थ - क्षीरसमुद्र से निकलती हुई एवं सुधा-समान जल से सारे लोक को प्लावित करती हुई सिद्धि रूपी महल के सोपानों की पंक्ति के समान चन्द्रकला का ललाट में ध्यान करना चाहिए ॥५९॥

अस्याः स्मरणमात्रेण, त्रुट्यद्भवनिबन्धनः ।
प्रयाति परमानन्द-कारणं पदमव्ययम् ॥६०॥

अर्थ - इस चन्द्रकला का स्मरण करने मात्र से साधक के संसार का कारण रूप जन्म-मरण का बन्धन खत्म हो जाता है और वह परमानन्द के कारण रूप अव्ययपद-मोक्ष को प्राप्त करता है ॥६०॥

नासाग्रे प्रणवः शून्यम् अनाहतमिति त्रयम् ।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम् ॥६१॥

अर्थ – नासिका के अग्रभाग पर प्रणव 'ॐ' शून्य '०' और अनाहत 'ह' इन तीन (ॐ, ० और ह) का ध्यान करने वाला अणिमादि आठ सिद्धियों को प्राप्त करके निर्मलज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥६१॥

शङ्ख-कुन्द-शशाङ्काभान्, त्रीनमून् ध्यायतः सदा ।
समग्रविषयज्ञान-प्रागल्भ्यं जायते नृणाम् ॥६२॥

अर्थ – शंख, कुन्द और चन्द्र के समान उज्ज्वल प्रणव, शून्य और अनाहत इन तीनों का सदा ध्यान करने वाले पुरुष समस्त विषयों के ज्ञान में पारंगत हो जाता है ॥६२॥

द्विपार्श्वप्रणवद्वन्द्वं प्रान्तयोर्मायया वृतम् ।
'सोऽहं' मध्ये विमूर्धानं 'अहम्लींकारं' विचिन्तयेत् ॥६३॥

अर्थ – जिसके दोनों ओर दो-दो ॐकार है, आदि और अन्त में (किनारे पर) ह्रींकार है, मध्य में सोऽहं है, उस सोऽहं के मध्य में अह्ल्रीं है । अर्थात् 'ह्रीँ ॐ ॐ सो अह्म्लीं हं ॐॐह्रीं' इस रूप में इस मन्त्र का ध्यान करना चाहिए ॥६३॥

कामधेनुमिवाचिन्त्य-फल-सम्पादन-क्षमाम् ।
अनवद्यां जपेद्विद्यां गणभृद्-वदनोद्-गताम् ॥६४॥

अर्थ – कामधेनु के समान अचिन्त्य फल देने में समर्थ श्रीगणधर-भगवान् के मुख से निर्गत निर्दोष विद्या का जाप करना चाहिए। वह विद्या इस प्रकार है – 'ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूए भव्वे भविस्से अन्ते पक्खे जिणपासे स्वाहा' ॥६४॥

षट्कोणेऽप्रतिचक्रे, 'फट्' इति प्रत्येकमक्षरम् ।
सव्ये न्यसेद् 'विचक्राय स्वाहा' बाह्येऽपसव्यतः ॥६५॥
भूतान्तं बिन्दुसंयुक्तं, तन्मध्ये न्यस्य चिन्तयेत् ।
'नमो जिणाणं' इत्याद्यैः 'ॐ' पूर्वैर्वेष्टयेद् बहिः ॥६६॥

अर्थ – पहले षट्कोण यन्त्र का चिन्तन करे । उसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्रे फट्' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखे । इस यन्त्र के बाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोनों के पास लिखना, बाद में 'ॐ नमो जिणाणं', ॐ नमो ओहिजाणाणं, ॐ नमो परमोहिजिणाणं, ॐ नमो सव्वोसहिजिणाणं, ॐ नमो अणतोहिबिजाणं, ॐ नमो कोट्ठबुद्धीणं, ॐ नमो बीयबुद्धीणं, ॐ नमो पयाणुसारीणं, ॐ नमो संभिन्नसोआणं, ॐ नमो उज्जुमईणं, ॐ नमो विउलमईणं, ॐ नमो दसपुव्वीणं, ॐ नमो चउदसपुव्वीणं, ॐ नमो अट्ठंगमहानिमित्त-कुसलाणं, ॐ नमो विउव्वणड्ढि-पत्ताणं, ॐ नमो विज्जाहराणं, ॐ नमो चारणाणं, ॐ नमो पण्णासमणाणं, ॐ नमो आगासगामीणं, ॐ ज्सौं ज्सौं श्रीं ह्रीँ धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा । इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करे । फिर पंच-परमेष्ठी-महामन्त्र के पाँच पदों का पाँच अंगुलियों में स्थापन करने से सकलीकरण होता है । 'ॐ नमो अरिहंताणं ह्राँ स्वाहा' अंगूठे में, ॐ नमो सिद्धाणं ह्रीँ स्वाहा तर्जनी में, 'ॐ नमो आयरियाणं ह्रूँ

स्वाहा' मध्यमा में, 'ॐ नमो उवज्झायाणं हँ स्वाहा' अनामिका में, 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं ह्रौँ स्वाहा' कनिष्ठा अंगुलि में स्थापना करके यन्त्र के मध्य में बिन्दुसहित ॐ कार की स्थापना करे । इस तरह तीन बार अंगुलियों में विन्यास करके यन्त्र को मस्तक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशा के अन्तर-भाग में स्थापित करके जाप-चिन्तन करे ॥६५-६६॥

अष्टपत्रेऽम्बुजे ध्यायेद्, आत्मानं दीप्ततेजसम् ।
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य, वर्णान् पत्रेषु च क्रमात् ॥६७॥
पूर्वाशाभिमुखः पूर्वम्, अधिकृत्याऽऽदिमण्डलम् ।
एकादश शतान्यष्टाक्षरं, मन्त्रं जपेत् ततः ॥६८॥
पूर्वाशाऽनुक्रमादेवम् उद्दिश्यान्यदलान्यपि ।
अष्टरात्रं जपेद् योगी, सर्वप्रत्यूहशान्तये ॥६९॥
अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते, कमलस्यास्य वर्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमम् ॥७०॥
भीषणाः सिंह-मातङ्गरक्षःप्रभृतयः क्षणात् ।
शाम्यन्ति व्यन्तराश्चान्ये, ध्यानप्रत्यूहहेतवः ॥७१॥
मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं, फलमैहिकमिच्छुभिः ।
ध्येयः प्रणवहीनस्तु निर्वाणपदकाङ्क्षिभिः ॥७२॥

अर्थ – आठ पंखुड़ी वाले कमल में झिलमिल तेज से युक्त आत्मा का चिन्तन करना और ॐकारपूर्वक प्रथम मन्त्र के (ॐ नमो अरिहंताणं) इन आठ वर्णों को क्रमशः

आठों पत्रों पर स्थापन करना । प्रथम पंखुड़ी की गणना पूर्वदिशा से आरम्भ करना, उसमें ॐस्थापित करना, बाद में यथाक्रम से शेष सात अक्षर स्थापित करना । इस अष्टाक्षरी मन्त्र का कमल के पत्रों पर ग्यारह सौ जाप करना । इस अनुक्रम से शेष दिशाविदिशाओं में स्थापना करके समस्त उपद्रव की शान्ति के लिए योगी को आठ दिन तक इस अष्टाक्षरी विद्या का जाप करना चाहिए । जाप करते हुए आठ रात्रि व्यतीत हो जाने पर कमल के अन्दर पत्रों पर स्थित अष्टाक्षरी विद्या के इन आठों वर्णों के क्रमशः दर्शन होंगे । योगी जब इन ८ वर्णों का साक्षात्कारकर लेता है तो उसमें ऐसा सामर्थ्य प्रकट हो जाता है कि ध्यान में उपद्रव करने वाला भयानक सिंह, हाथी, राक्षस और भूत, व्यंतर, प्रेत आदि उसके प्रभाव से शान्त हो जाते हैं । इहलौकिक फल के अभिलाषियों को 'नमो अरिहंताणं' इस मन्त्र का ॐकार सहित ध्यान करना चाहिए, परन्तु निर्वाणपद के इच्छुक को प्रणव ॐ-रहित मन्त्र का ध्यान करना चाहिए । ॐ नमो अरिहंताणं प्रणवयुक्त मन्त्र है ॥६७-७२॥

चिन्तयेदन्यमप्येनं, मन्त्रं कर्मौघशान्तये ।
स्मरेत् सत्त्वोपकाराय, विद्यां तां पापभक्षिणीम् ॥७३॥

अर्थ – 'श्रीमद्-ऋषभादि-वर्धमानान्तेभ्यो नमः' इस मन्त्र का भी कर्मों के समूह को शान्त करने के लिए ध्यान करना चाहिए और समस्त जीवों के उपकार के लिए

पापभक्षिणी विद्या का भी स्मरण करना चाहिए । वह इस प्रकार है - ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि ! पापात्मक्षयंकारि ! श्रुतज्ञानज्वालासहस्रज्वलिते ! सरस्वति ! मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरधवले ! अमृतसंभवे ! वं वं हूं हूं स्वाहा ॥७३॥

प्रसीदति मनः सद्यः, पापकालुष्यमुज्झति ।
प्रभावातिशयादस्याः, ज्ञानदीपः प्रकाशते ॥७४॥

अर्थ - इस विद्या के प्रभाव से मन तत्काल प्रसन्न हो जाता है, पाप की मलिनता नष्ट हो जाती है और ज्ञान का दीपक प्रकाशित हो जाता है ॥७४॥

ज्ञानवद्भिः समाम्नातं, वज्रस्वाम्यादिभिः स्फुटम् ।
विद्यावादात् समुद्धृत्य, बीजभूतं शिवश्रियः ॥७५॥
जन्मदावहुताशस्य, प्रशान्तिनववारिदम् ।
गुरूपदेशाद् विज्ञाय, सिद्धचक्रं विचिन्तयेत् ॥७६॥

अर्थ - वज्रस्वामी आदि पूर्व-श्रुतज्ञानी पुरुषों ने विद्याप्रवाद नामक पूर्व में से जिसे उद्धृत किया है और जिसे मोक्षलक्ष्मी का बीज माना है, जो जन्ममरण के दावानल को शान्त करने के लिए नये मेघ के समान है, उस सिद्धचक्र को गुरु महाराज के उपदेश से जानकर कर्मक्षय के लिए उसका ध्यान करना चाहिए ॥७५-७६॥

नाभिपद्मे स्थितं ध्यायेदकारं विश्वतोमुखम् ।
'सि'वर्णं मस्तकाम्भोजे, 'आ'कारं वदनाम्बुजे ॥७७॥
'उ'कारं हृदयाम्भोजे, 'सा'कारं कण्ठपङ्कजे ।
सर्वकल्याणकारीणि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ॥७८॥

अर्थ - नाभि-कमल में सर्वव्यापी अकार का, मस्तक-कमल में 'सि' वर्ण का, मुख कमल में 'आ, का, हृदय कमल में उ कार का और कण्ठकमल मे 'सा' का ध्यान करना तथा सर्व प्रकार के कल्याण करने वाले अन्य बीजाक्षरों का भी स्मरण करना चाहिए । वह अन्य बीजाक्षर 'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' है ॥७७-७८॥

श्रुतसिन्धुसमुद्भूतं, अन्यदप्यक्षरं पदम् ।
अशेषं ध्यायमानं स्यात् निर्वाणपदसिद्धये ॥७९॥

अर्थ - श्रुत रूपी समुद्र से उत्पन्न हुए अन्य, अक्षरों, पदों आदि का ध्यान भी निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है ॥७९॥

वीतरागो भवेद् योगी, यत् किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्ये ग्रन्थ-विस्तराः ॥८०॥
एवं च मन्त्रविद्यानां, वर्णेषु च पदेषु च ।
विश्लेषं क्रमशः कुर्यात्, लक्ष्मी (क्ष्यी) भावोपपत्तये ॥८१॥

अर्थ - जिस किसी भी अक्षर, पद, वाक्य, शब्द,

मन्त्र एवं विद्या का ध्यान करने से योगी राग-द्वेष से रहित होता है, उसी का ध्यान, ध्यान माना गया है, उसके अतिरिक्त सब ग्रन्थविस्तार है। ग्रंथ विस्तृत हो जाने के भय से हमने यहाँ उन्हें नहीं बताया, जिज्ञासु अन्य ग्रन्थों से उन्हें जान लें। मोक्षलक्ष्मी (लक्ष्य) की प्राप्ति के लिए इस तरह मन्त्रों और विद्याओं के वर्णों और पदों में क्रमशः विभाग (विश्लेषण) कर लेना चाहिए ॥८०-८१॥

इति गणधरधुर्याविष्कृतादुद्धृतानि,
प्रवचनजलराशेस्तत्त्वरत्नान्यमूनि ।
हृदयमुकुरमध्ये धीमतामुल्लसन्तु,
प्रचितभवशतोत्थक्लेशनिर्नाशहेतोः ॥८२॥

अर्थ - इस प्रकार मुख्य गणधर-भगवन्तों द्वारा प्रकट किये हुए प्रवचन रूप समुद्र में से ये तत्त्वरत्न उद्धृत किये हैं। ये तत्त्वरत्न अनेक भवों के संचित कर्म-क्लों का नाश करने के लिए बुद्धिमान पुरुषों के हृदयरूपी दर्पण में उल्लसित हों ॥८२॥

●●●

९. नवम प्रकाश

मोक्ष-श्रीसम्मुखीनस्य, विध्वस्ताखिलकर्मणः ।
चतुर्मुखस्य निःशेष-भुवनाभयदायिनः ॥१॥
इन्दुमण्डलसङ्काशच्छत्र-त्रितयशालिनः ।
लसद्भामण्डलाभोगविडम्बितविवस्वतः ॥२॥
दिव्य-दुन्दुभिनिर्घोष-गीत-साम्राज्य-सम्पदः ।
रणद्द्विरेफझङ्कार-मुखराशोकशोभिनः ॥३॥
सिंहासन-निषण्णस्य, वीज्यमानस्य चामरैः ।
सुरासुरशिरोरत्नदीप्रपादनखद्युतेः ॥४॥
दिव्यपुष्पोत्कराकीर्णासङ्कीर्णपरिषद्भुवः ।
उत्कन्धरैर्मृगकुलैः, पीयमानकलध्वनेः ॥५॥
शान्तवैरेभसिंहादि-समुपासितसन्निधेः ।
प्रभोः समवसरणस्थितस्य परमेष्ठिनः ॥६॥
सर्वातिशययुक्तस्य, केवलज्ञानभास्वतः ।
अर्हतो रूपमालम्ब्य, ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥७॥

अर्थ - जो योगी मोक्षलक्ष्मी के संमुख पहुंच चुके हैं, जिन्होंने समग्र कर्मो का विनाश कर दिया है, उपदेश देते समय चौमुखी हैं, समग्र लोक के प्राणिमात्र को जो अभयदान देते हैं और चन्द्रमण्डल के समान तीन उज्ज्वल छत्रों से सुशोभित हैं, सूर्यमण्डल की प्रभा को मात करने वाला भामण्डल जिनके चारों ओर देदीप्यमान है, जहाँ दिव्यदुंदुभि के आघोष हो रहे हैं, गीतगान की साम्राज्य-

सम्पदा हैं । गुंजार करते हुए भ्रमरों की झंकार से गूंजित अशोकवृक्ष से सुशोभित हैं, सिंहासन पर विराजमान हैं, जिनके दोनों और चामर ढुलाये जा रहे हैं, वन्दन करते हुए सुरों और असुरों के मुकट के रत्नों की कांति से जिनके चरणों के नख की द्युति चमक रही हैं, दिव्यपुष्पों के समूह से समवसरण की विशालभूमि भी खचाखच भरी हुई है, गर्दन ऊपर उठाकर मृगादि पशुओं के झुंड जिनका मधुर उपदेश पान कर रहे हैं, सिंह, हाथी, सर्प, नकुल आदि जन्म से वैर वाले जीव अपना वैर भूलकर जिनके पास बैठ गये हैं, ऐसे समवसरण में स्थित सर्व-अतिशयों से युक्त, केवलज्ञान से सुशोभित परमेष्ठी अरिहंत भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थध्यान कहलाता है ॥१-७॥

राग-द्वेष-महामोह-विकारैरकलङ्कितम् ।
शान्तं कान्तं मनोहारि, सर्वलक्षणलक्षितम् ॥८॥
तीर्थिकैरपरिज्ञात-योगमुद्रामनोरमम् ।
अक्ष्णोरमन्दमानन्दनिःस्यन्दं दददद्भुतम् ॥९॥
जिनेन्द्रप्रतिमारूपम्, अपि निर्मलमानसः ।
निर्निमेषदृशां ध्यायन्, रूपस्थध्यानवान् भवेत् ॥१०॥

अर्थ - राग-द्वेष-महामोह-अज्ञान आदि विकारों से रहित, शान्त, कान्त, मनोहर आदि समस्त प्रशान्त लक्षणों से युक्त, अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा अज्ञात योग-ध्यानमुद्रा को धारण

करने से मनोरम तथा आंखों से प्रबल अद्भुत आनन्द झर रहा है, ऐसी स्थिरता से युक्त श्रीजिनेश्वरदेव की प्रतिमा के रूप का निर्मल चित्त से आंख बन्द किये बिना स्थिर निगाह से ध्यान करने वाला योगी रूपस्थध्यानी कहलाता है ॥८-१०॥

योगी चाभ्यासयोगेन, तन्मयत्वमुपागतः ।
सर्वज्ञीभूतमात्मानम्, अवलोकयति स्फुटम् ॥११॥
सर्वज्ञो भगवान् योऽयम्, अहमेवास्ति स ध्रुवम ।
एवं तन्मयतां यातः, सर्ववेदीति मन्यते ॥१२॥

अर्थ - रूपस्थध्यान का अभ्यास करने से तन्मयता-प्राप्त योगी अपने आप को स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के समान देखने लगता है । 'जो सर्वज्ञ भगवान है, निस्सन्देह वही मैं हूं ।' इस प्रकार सर्वज्ञ-भगवान् में तन्मयता हो जाने से, वह योगी सर्वज्ञ माना जाता है ॥१२-१३॥

वीतरागो विमुच्येत, वीतरागं विचिन्तयन् ।
रागिणं तु समालम्ब्य, रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ॥१३॥

अर्थ - श्री वीतरागदेव का ध्यान करने वाला स्वयं वीतराग होकर कर्मों या वासनाओं से मुक्त हो जाता है । इसके विपरीत रागी देवों का आलम्बन लेने वाला या ध्यान करने वाला काम, क्रोध, हर्ष, विषाद, राग-द्वेषादि दोष प्राप्त करके स्वयं सरागी बन जाता है ॥१४॥

येन येन हि भावेन, युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति, विश्वरूपो मणिर्यथा ॥१४॥

अर्थ – स्फटिकरत्न के पास जिस रंग की वस्तु रख दी जाती वह रत्न उसी रंग का दिखायी देने लगता है। इसी प्रकार स्फटिक के समान अपना निर्मल आत्मा, जिस-जिस भाव का आलम्बन ग्रहण करता है, उस उस भाव की तन्मयता वाला बन जाता है ॥१४॥

नासद्ध्यानानि सेव्यानि, कौतुकेनापि किन्त्विह ।
स्वनाशायैव जायन्ते, सेव्यमानानि तानि यत् ॥१५॥

अर्थ – अपनी इच्छा न हो तो कुतूहल से भी असद्ध्यान का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका सेवन करने से अपनी आत्मा का विनाश ही होता है। वह किस तरह ? ॥१६॥

सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वाः, स्वयं मोक्षावलम्बिनाम् ।
सन्दिग्धा सिद्धिरन्येषां स्वार्थभ्रंशस्तु निश्चितः ॥१६॥

अर्थ – मोक्षावलम्बी योगियों को स्वतः ही सभी (अष्ट) महासिद्धियाँ सिद्ध उपलब्ध हो जाती है और परम्परा से स्वतः सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हो जाती है, किन्तु संसारसुख के अभिलाषियों को सिद्धि की प्राप्ति संदिग्ध है, क्योंकि इष्ट लाभ मिले या न मिले, परन्तु (आत्महित से) स्वार्थभ्रष्टता तो अवश्य होती है।

• • •

१०. दशम प्रकाश

अमूर्त्तस्य चिदानन्द-रूपस्य परमात्मनः ।
निरञ्जनस्य सिद्धस्य, ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम् ॥१॥

अर्थ – अमूर्त (शरीर रहित), निराकार, चिदानन्द-(ज्ञानानन्द)-स्वरूप, निरंजन, सिद्ध परमात्मा का ध्यान, रूपातीतध्यान कहलाता है ॥१॥

इत्यजस्त्रं स्मरन् योगी, तत्स्वरूपावलम्बनः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥२॥

अर्थ – ऐसे निरंजन निराकार सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का आलम्बन लेकर उनका सतत ध्यान करने वाला योगी ग्राह्य-ग्राहकभाव अर्थात् ध्येय और ध्याता के भाव से रहित तन्मयता-(सिद्ध स्वरूपता) प्राप्त कर लेता है ॥२॥

अनन्यशरणीभूय, स तस्मिन् लीयते यथा ।
ध्यातृ-ध्यानोभयाभावे, ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥३॥

उन सिद्ध परमात्मा की अनन्य शरण लेकर जब योगी उनमें तल्लीन हो जाता है, तब कोई भी आलम्बन नहीं रहने से वह योगी सिद्ध परमात्मा की आत्मा में तन्मय बन जाता है और ध्याता और ध्यान इन दोनों के अभाव में ध्येय-रूप सिद्ध परमात्मा के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है ॥३॥

सोऽयं समरसीभावः, तदेकीकरणं मतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन, लीयते परमात्मनि ॥४॥

अर्थ – रूपातीत ध्यान करनेवाले योगीपुरुष के मन का

सिद्ध परमात्मा के साथ एकीकरण-(तन्मय) हो जाना, समरसीभाव कहलाता है। वही वास्तव में एकरूपता मानी गयी है जिससे आत्मा अभेद रूप से परमात्मा में लीन हो जाती है ॥४॥

अलक्ष्यं-लक्ष्य-सम्बन्धात्, स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं, तत्त्ववित् तत्त्वमञ्जसा ॥५॥

अर्थ - प्रथम पिण्डस्थ, पदस्थ आदि लक्ष्य वाले ध्यान द्वारा निरालम्बन रूप अलक्ष्य ध्यान में प्रवेश करना चाहिए। स्थूल ध्येयों का ग्रहण कर क्रमशः अनाहत कला आदि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर ध्येयों का चिन्तन करना चाहिए और रूपस्थ आदि सालम्बन ध्येयों से सिद्ध परमात्म-स्वरूप निरालम्बन ध्येय में जाना चाहिए। इस क्रम से ध्यान का अभ्यास किया जाये तो तत्त्वज्ञ योगी अल्प समय में ही तत्त्व की प्राप्ति कर लेता है ॥५॥

एवं चतुर्विध-ध्यानामृतमग्नं मुनेर्मनः।
साक्षात्कृतजगत्तत्त्वं, विधत्ते शुद्धिमात्मनः ॥६॥

अर्थ - इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानामृत में निमग्न मुनि का मन जगत् के तत्त्वों का साक्षात्कार करके अनुभवज्ञान प्राप्त कर आत्मा की विशुद्धि कर लेता है ॥६॥

आज्ञाऽपायविपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात्।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥७॥

अर्थ - १. आज्ञा-विचय, २. अपाय-विचय, ३. विपाक-विचय, और ४. संस्थान-विचय का चिन्तन करने से ध्येय के भेद से धर्मध्यान के चार भेद होते हैं ॥७॥

आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य, सर्वज्ञानामबाधिताम्।
तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थान्, तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते ॥८॥

अर्थ - सर्वज्ञों = प्रामाणिक आप्त पुरुषों की, किसी भी तर्क से अबाधित, पूर्वापर वचनों में परस्पर अविरुद्ध, अन्य किसी भी दर्शन से अकाट्य, आज्ञा अर्थात्-सर्वज्ञ-प्ररूपित द्वादशांगी रूपी प्रवचन, को सामने रखकर जीवादि पदार्थों का तत्त्वतः (यथार्थः) चिन्तन करना, आज्ञाध्यान कहलाता है ॥८॥

सर्वज्ञवचनं सूक्ष्मं, हन्यते यत्र हेतुभिः।
तदाज्ञारूपमादेयं, न मृषाभाषिणो जिनाः ॥९॥

अर्थ - सर्वज्ञ भगवान् के वचन ऐसे सूक्ष्मता स्पर्शी होते हैं कि वे किसी हेतु या युक्ति से खण्डित नहीं हो सकते। अतः सर्वज्ञ भगवान् के आज्ञा रूपी वचन स्वीकार करने चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञभगवान् कभी असत्य वचन नहीं कहते ॥९॥

रागद्वेष-कषायाद्यैः, जायमानान् विचिन्तयेत्।
यत्रापायांस्तदपायविचय-ध्यानमिष्यते ॥१०॥

अर्थ - ध्यान में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय, विषयविकार आदि पापस्थानों और तज्जनित दुःख, क्लेश, दुर्गति आदि का चिन्तन करना, 'अपाय-विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है ॥१०॥

ऐहिकामुष्मिकापाय-परिहारपरायणः ।
ततः प्रतिनिवर्तेत, समन्तात् पापकर्मणः ॥११॥

अर्थ – राग, द्वेषादि से उत्पन्न होने वाले चार गति-सम्बन्धी दुःखों का विचार करने से ध्याता इस लोक और परलोक के दुःखदायी कष्टों का परिहार करने के लिए तत्पर हो जाता है, और इससे वह सब प्रकार के पापकर्मों से निवृत्त हो जाता है ॥११॥

प्रतिक्षणसमुद्भूतो, यत्र कर्मफलोदयः ।
चिन्त्यते चित्ररूपः स, विपाकविचयो मतः ॥१२॥
या सम्पदाऽर्हतो या च, विपदा नारकात्मनः ।
एकातपत्रता तत्र, पुण्यापुण्यस्य कर्मणः ॥१३॥

अर्थ – क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मफल के उदय का चिन्तन करना, विपाक-विषयक धर्मध्यान कहलाता है । उसी बात का विचार करते हुए दिग्दर्शन कराते हैं कि श्रीअरिहंत भगवान् को जो श्रेष्ठतम संपत्तियाँ और नारकीय जीवों को जो घोरतम विपत्तियाँ होती है, इन दोनों में पुण्यकर्म और पापकर्म की एकछत्र प्रभुता है। अर्थात् पुण्य-पाप की प्रबलता ही सुख-दुःख का कारण है ॥१२-१३॥

अनाद्यन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मनः ।
आकृतिं चिंतयेद् यत्र संस्थान-विचयः स तु ॥१४॥

अर्थ – अनादि-अनंत परन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-स्वरूप लोक की आकृति का विचार करना, संस्थान-विचय धर्मध्यान कहलाता है ॥१४॥

नानाद्रव्यगतानन्त-पर्यायपरिवर्तनात् ।
सदा सक्तं मनो नैव, रागाद्याकुलतां व्रजेत् ॥१५॥

अर्थ – लोक में अनेक द्रव्य हैं, और एक-एक द्रव्य के अनन्त-अनन्त पर्याय हैं, उनका परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार द्रव्यों का बार-बार चिन्तन करने से मन में आकुलता नहीं होती तथा रागद्वेष आदि नहीं होते ॥१५॥

धर्मध्याने भवेद् भावः, क्षायोपशमिकादिकः ।
लेश्याः क्रमविशुद्धाः स्युः, पीत-पद्म-सिताः पुनः ॥१६॥

अर्थ – जब धर्मध्यान में प्रवृत्ति होती है, तब आत्म स्वरूप क्षायोपशमिक आदि भाव होते हैं। आदि शब्द कहने से औपशमिक और क्षायिक भाव होते हैं, किन्तु पौद्गलिक रूप औदयिक भाव नहीं होता । धर्मध्यान के समय में क्रमशः विशुद्ध तीन लेश्याएँ होती हैं । वह इस प्रकार-पीतलेश्या, (तेजो लेश्या) इससे अधिक निर्मल पद्मलेश्या और इससे भी अत्यन्त विशुद्ध शुक्ललेश्या ॥१६॥

अस्मिन् नितान्त-वैराग्य-व्यतिषङ्गतरङ्गिते ।
जायते देहिनां सौख्यं, स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ – अत्यन्त वैराग्यरस से परिपूर्ण धर्मध्यान में जब

आत्मा एकाग्र हो जाता है, तब जीव को इन्द्रियों से अगम्य आत्मिक सुख का अनुभव होता है। कहा है कि 'विषयों में अनासक्ति, आरोग्य, अनिष्ठुरता, कोमलता, करुणा, शुभगन्ध, तथा मूत्र और पुरीष की अल्पता हो जाती है। शरीर की कान्ति, मुख की प्रसन्नता, स्वर में सौम्यता इत्यादि विशेषताएँ योगी की प्रवृत्ति के प्रारम्भिक फल का चिह्न समझना चाहिए ॥१७॥

त्यक्तसङ्गास्तनुं त्यक्त्वा, धर्मध्यानेन योगिनः ।
ग्रैवेयकादि स्वर्गेषु, भवन्ति त्रिदशोत्तमाः ॥१८॥
महामहिमसौभाग्यं, शरच्चन्द्रनिभप्रभम् ।
प्राप्नुवन्ति वपुस्तत्र, स्रग्भूषाम्बर-भूषितम् ॥१९॥
विशिष्ट-वीर्य-बोधाढ्यं, कामार्तिज्वरवर्जितम् ।
निरन्तरायं सेवन्ते, सुखं चानुपमं चिरम् ॥२०॥
इच्छा-सम्पन्न-सर्वार्थ-मनोहारि-सुखामृतम् ।
निर्विघ्नमुपभुञ्जानाः गतं जन्म न जानते ॥२१॥

अर्थ – समस्त-पर-पदार्थों की आसक्ति का त्याग करने वाले योगी पुरुष धर्मध्यान के प्रभाव से शरीर को छोड़कर ग्रैवेयक आदि वैमानिक देवलोक में उत्तम देव रूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ महामहिमा (प्रभाव), महान् सौभाग्य, शरद्ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त, दिव्य पुष्पमालाओं, आभूषणों और वस्त्रों से विभूषित शरीर प्राप्त होता है। वे विशिष्ट प्रकार के वीर्य (शरीरबल) निर्मल बोध व तीन ज्ञान से सम्पन्न कामपीड़ा रूपी ज्वर से रहित, विघ्न-बाधा-रहित

अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते हैं। इच्छा करते ही उन्हें सब प्रकार के मनोहर पदार्थ प्राप्त होते हैं और निर्विघ्न सुखामृत के उपभोग में वे इतने तन्मय रहते हैं कि उन्हें इस बात का पता नहीं लगता कि कितने जन्म बीते या कितनी आयु व्यतीत हुई? ॥१८-२१॥

दिव्या भोगावसाने च, च्युत्वा त्रिदिवतस्ततः ।
उत्तमेन शरीरेणावतरन्ति महीतले ॥२२॥
दिव्यवंशे समुत्पन्नाः, नित्योत्सवमनोरमात् ।
भुञ्जते विविधान् भोगानखण्डित मनोरथाः ॥२३॥
ततो विवेकमाश्रित्य, विरज्याशेषभोगतः ।
ध्यानेन ध्वस्तकर्माणः, प्रयान्ति पदमव्ययम् ॥२४॥

अर्थ – देव-सम्बन्धी दिव्यभोग पूर्ण होने पर देवलोक से च्युत होकर वे भूतल पर अवतरित होते है, और यहाँ पर भी उन्हें सौभाग्य युक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है। जहाँ निरन्तर मनोहर उत्सव होते हैं, ऐसे दिव्यवंश में वे जन्म लेते हैं, और अखण्डित-मनोरथ वाले व्यक्ति विविध प्रकार के भोगों को अनासक्ति पूर्वक भोगते हैं। उसके बाद विवेक का आश्रय लेकर वे संसार के समस्त भोगों से विरक्त होकर उत्तम ध्यान द्वारा समस्त कर्मों का विनाश करके शाश्वतपद अर्थात् निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं ॥२२-२४॥

• • •

११. एकादशम प्रकाश

स्वर्गापवर्गहेतुर्धर्मध्यानमिति कीर्तितं तावत् ।
अपवर्गैकनिदानं, शुक्लमतः कीर्त्यते ध्यानम् ॥१॥

अर्थ – स्वर्ग के कारणभूत और परम्परा से मोक्ष के कारणभूत धर्मध्यान का वर्णन कर चुके। अब मोक्ष के एकमात्र कारणभूत शुक्लध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं ॥१॥

इदमादिमसंहनना एवालं पूर्ववेदिनः कर्तुम् ।
स्थिरतां न याति चित्तं कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम् ॥२॥

अर्थ – वज्रऋषनाराच (प्रथम) संघयन वाले और पूर्वश्रुतधारी मुनि ही शुक्लध्यान करने में समर्थ हो सकते हैं। इनसे रहित अल्पसत्त्व वाले साधक के चित्त में किसी भी तरह शुक्लध्यान की स्थिरता प्राप्त नहीं होती ॥२॥

धत्ते न खलु स्वास्थ्यं, व्याकुलितं तनुमतां मनो विषयैः ।
शुक्लध्याने तस्माद्, नास्त्यधिकारोऽल्पसाराणाम् ॥३॥

अर्थ – इन्द्रिय-विषयों से आकुल-व्याकुल बने हुए शरीरधारियों का मन स्वस्थ, शान्त एवं स्थिर नहीं हो सकता। इसी कारण अल्पसत्त्व वाले जीव शुक्लध्यान के अधिकारी नहीं हो सकते ॥३॥

अनवच्छित्त्याम्नायः समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभिः ।
दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ॥४॥

अर्थ – यद्यपि शास्त्रानुसार वर्तमानकाल के साधकों के लिए शुक्लध्यान करना अतिदुष्कर है, फिर भी शुक्लध्यान

के सम्बन्ध में अनवच्छिन्न आम्नाय-(परंपरा) चली आ रही है, वह टूट न जाय, इसलिए उसका स्वरूप बता रहे हैं ॥४॥

ज्ञेयं नानात्त्वश्रुतविचारमैक्यं श्रुताविचारं च ।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत् ॥५॥

अर्थ – शुक्लध्यान के चार भेद जानने चाहिए – १, पृथक्त्व वितर्कसविचार, २. एकत्व-वितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४. व्युपरतक्रिया निवृत्ति ॥५॥

एकत्र पर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद् द्रव्ये ।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेषु सङ्क्रमणयुक्तमाद्यं तत् ॥६॥

अर्थ – एक परमाणु आदि किसी द्रव्य के उत्पाद, विलय, स्थिति, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि विविध नयों के अनुसार पूर्वगत-श्रुतानुसार चिन्तन करना। तथा वह चिन्तन अर्थ, व्यंजन (शब्द) एवं मन-वचन-काया के योग में से किसी एक योग में संक्रमण से युक्त होता है ॥६॥

एवं श्रुतानुसाराद् एकत्ववितर्कमेकपर्याये ।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसङ्क्रमणमन्यत्तु ॥७॥

अर्थ – शुक्लध्यान के द्वितीय भेद में पूर्वश्रुतानुसार कोई भी एक ही पर्याय ध्येय होता है। अर्थात् परमाणु, जीव, ज्ञानादि गुण, उत्पाद आदि कोई एक पर्याय, शब्द या अर्थ, तीन योगों में से कोई एक योग ध्येय रूप में होता है, किन्तु अलग-अलग नहीं होता। एक ही ध्येय होने से इसमें

संक्रमण नहीं होता है, इसलिए यह 'एकत्व-वितर्क-अविचार' नामक दूसरा शुक्लध्यान है ॥७॥

निर्वाणगमनसमये, केवलिनो बादरनिरुद्धयोगस्य ।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, तृतीयं कीर्तितं शुक्लम् ॥८॥

अर्थ - मोक्ष जाने का समय अत्यन्त निकट आ जाने पर केवली भगवान् मन, वचन, और काया के स्थूलयोगों का निरोध कर लेते हैं, केवल श्वासोच्छ्वास आदि की सूक्ष्मक्रिया रहती है । इसमें सूक्ष्मक्रिया मिटकर कभी स्थूल नहीं होती, इसलिए इसका नाम 'सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति' शुक्लध्यान कहलता है ॥८॥

केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।
उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति, तुरीयं परमशुक्लम् ॥९॥

अर्थ - मेरुपर्वत के समान निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण में रहते हैं, तब उत्सन्नक्रियाऽप्रतिपाति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है, इसी का दूसरा नाम व्युपरतक्रिया-निवृत्ति है ॥९॥

एक-त्रियोगभाजामाद्यं, स्यादपरमेकयोगानाम् ।
तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगाणां चतुर्थं तु ॥१०॥

अर्थ - प्रथम शुक्लध्यान एक योग या तीनों योग वाले मुनियों को होता है, दूसरा ध्यान एक योग वाले को होता है, तीसरा सूक्ष्मकाययोग वाले केवलियों को और चौथा अयोगी केवलियों को ही होता है ॥१०॥

छद्मस्थितस्य यद्वन्मनः स्थिरं ध्यानमुच्यते तज्ज्ञैः ।
निश्चलमङ्गं तद्वत् केवलिनां कीर्तितं ध्यानम् ॥११॥

अर्थ - ज्ञानियों ने जैसे छद्मस्थ साधक के मन की स्थिरता को ध्यान कहा है, उसी प्रकार केवलियों के काया की स्थिरता को भी वे ध्यान कहते हैं । जैसे मनोयोग है, उसी प्रकार काया भी एक योग है । कायायोगत्व का अर्थ ध्यानशब्द से भी होता है ॥११॥

पूर्वाभ्यासात्जीवोपयोगतः कर्मजरणहेतोर्वा ।
शब्दार्थबहुत्वाद्वा जिनवचनाद्वाऽप्ययोगिनो ध्यानम् ॥१२॥

अर्थ - पूर्वकालिक अभ्यास से जीव के उपयोग से कर्मनिर्जरा होती है, इस कारण से, अथवा शब्दार्थ की बहुलता या श्री जिनेश्वर के वचन से इसे अयोगियों का ध्यान कह सकते हैं ॥१२॥

आद्ये श्रुतावलम्बन-पूर्वे पूर्वश्रुतार्थ-सम्बन्धात् ।
पूर्वधराणां छद्मस्थयोगिनां प्रायशो ध्याने ॥१३॥

अर्थ - शुक्लध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो ध्यान पूर्वधरों एवं छद्मस्थयोगियों को श्रुतज्ञान के अवलम्बन से प्रायः पूर्व श्रुत के अर्थ से सम्बन्धित होते हैं ॥१३॥

सकलालम्बन-विरह-प्रथिते द्वे त्वन्तिमे समुद्दिष्टे ।
निर्मल-केवलदृष्टि-ज्ञानानां क्षीणदोषाणाम् ॥१४॥

अर्थ - शुक्लध्यान के अन्तिम दो ध्यान समस्त

आलम्बन से रहित होते हैं, वे समस्त दोषों का क्षय करने वाले निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन वाले योगियों को होते हैं ॥१४॥

तत्र श्रुताद् गृहीत्वैकमर्थमर्थाद् व्रजेच्छब्दम् ।
शब्दात् पुनरप्यर्थं योगाद् योगान्तरं च सुधीः ॥१५॥
सङ्क्रामत्यविलम्बितम्, अर्थप्रभृतिषु यथा किल ध्यानी ।
व्यावर्तते स्वयमसौ, पुनरपि तेन प्रकारेण ॥१६॥
इति नानात्वे निशिताभ्यासः सञ्जायते यदा योगी ।
आविर्भूतात्मगुणः, तदैकताया भवेद्य योग्यः ॥१७॥
उत्पाद-स्थिति-भङ्गादि-पर्याणायां यदेकयोगः सन् ।
ध्यायति पर्यायमेकं, तत् स्यादेकत्वमविचारम् ॥१८॥
त्रिजगद्विषयं ध्यानादणुसंस्थं धारयेत् क्रमेण मनः ।
विषमिव सर्वाङ्गतं, मन्त्रबलान्मांत्रिको दंशे ॥१९॥
अपसारितेन्धनभरः शेषः स्तोकेन्धनोऽनलो ज्वलितः ।
तस्मादपनीतो वा निर्वाति यथा मनस्तद्वत् ॥२०॥

अर्थ – उस शुक्लध्यान के प्रथम भेद में श्रुतज्ञान में से किसी एक पदार्थ को ग्रहण करके उसके विचार में से शब्द का विचार करना, और शब्द से पदार्थ के विचार में आना चाहिए। इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग में आना-जाना होता है। ध्यानी पुरुष जिस शीघ्रता से अर्थ, शब्द और योग में संक्रमण करता है उसी शीघ्रता से उसमें से वापिस लौट

जाता है। इस प्रकार जब योगी अनेक प्रकार के तीक्ष्ण-(सूक्ष्म-विषयक) अभ्यास वाला हो जाता है, तब अपने में आत्मगुण प्रकट करके शुक्लध्यान से एकत्व के योग्य होता है। फिर एक योगवाला बनकर पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश आदि पर्यायों में से किसी एक पर्याय का ध्यान करता है, तब एकत्व, अविचार शुक्ल ध्यान कहलाता है। जैसे मन्त्र जानने वाला मन्त्र के बल से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विष को एक स्थान में लाकर केन्द्रित कर लेता है, उसी प्रकार योगी ध्यान के बल से त्रिजगत्विषयक मन को एक परमाणु पर केन्द्रित कर लेता है। जलती हुई अग्नि में से ईधन को खींच लेने पर या बिलकुल हटा देने पर थोड़े ईधन वाली अग्नि बुझ जाती है, इसी प्रकार जब मन को भी विषय-रूपी ईधन नहीं मिलता, तब वह अपने आप ही शान्त हो जाता है ॥१५-२०॥

ज्वलति ततश्च ध्यान-ज्वलने भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्य ।
निखिलानि विलीयन्ते क्षणमात्राद् घातिकर्माणि ॥२१॥

अर्थ – उसके बाद जब ध्यान रूपी अग्नि अत्यन्त प्रचण्ड रूप से जलकर उज्ज्वल हो जाती है, तब उसमें योगीन्द्र के समग्र घातिकर्म क्षणभर में भस्म हो जाते हैं ॥२१॥

ज्ञानावरणीयं दृष्ट्यावरणीयं च मोहनीयं च ।
विलयं प्रयान्ति सहसा, सहान्तरायेण कर्माणि ॥२२॥

अर्थ - शुक्लध्यान के प्रभाव से अन्तरायकर्म के सहित ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय यह चारों कर्म एक साथ वनिष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

सम्प्राप्य केवलज्ञान-दर्शने दुर्लभे ततो योगी ।
जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थम् ॥२३॥

अर्थ - घातिकर्मों का क्षय होने पर योगी दुर्लभ केवलज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करके यथावस्थित रूप में समस्त लोक और अलोक को जानने तथा देखने लगता है ॥२३॥

देवस्तदा स भगवान् सर्वज्ञः सर्वदर्श्यनन्तगुणः ।
विहरत्यवनीवलयं, सुरासुरनरोरगैः प्रणतः ॥२४॥
वाग्ज्योत्स्नयाऽखिलान्यपि, विबोधयति भव्यजन्तुकुमुदानि ।
उन्मूलयति क्षणतो, मिथ्यात्वं द्रव्य-भावगतम् ॥२५॥
तन्नामग्रहमात्राद्, अनादि-संसार-सम्भवं दुःखम् ।
भव्यात्मनामशेषं परिक्षयं याति सहसैव ॥२६॥
अपि कोटीशतसङ्ख्याः समुपासितुमागताः सुरनराद्याः ।
क्षेत्रे योजनमात्रे, मान्ति तदाऽस्य प्रभावेण ॥२७॥
त्रिदिवौकसो मनुष्याः तिर्यञ्चोऽन्येऽप्यमुष्य बुध्यन्ते ।
निजनिजभाषानुगतं, वचनं धर्मावबोधकरम् ॥२८॥
आयोजनशतमुग्राः रोगाः शाम्यन्ति तत्प्रभावेण ।
उदयिनि शीतमरीचाविव तापरुजः क्षितेः परितः ॥२९॥

मारीति-दुर्भिक्षातिवृष्ट्यानावृष्टि-डमर-वैराणि ।
न भवन्त्यस्मिन् विहरति, सहस्त्ररश्मौ तमांसीव ॥३०॥

अर्थ - केवलज्ञान होने के बाद सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त गुणों के निधान देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् अनेक सुर, असुर और नागकुमार आदि से वन्दनीय होकर पृथ्वीमण्डल पर विचरते हैं । और विचरते हुए भगवान् अपनी वाणी रूपी चन्द्रज्योत्स्ना (चांदनी) द्वारा भव्यजीव रूपी चन्द्रविकासी कमल (कुमुद) को प्रतिबोधित करते हैं और उनके द्रव्य-मिथ्यात्व और भाव-मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को क्षणभर में समूलतः नष्ट कर देते हैं । उनका नाम उच्चारण करने मात्र से अनादिकाल से संसार में उत्पन्न होने वाले भव्यजीवों के समग्र दुःख सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं । तथा उन भगवान् की उपासना के लिए आये हुए शतकोटि देव, मनुष्य और तिर्यंच आदि एक योजनमात्र क्षेत्र-स्थान में ही समा जाते हैं । उनके धर्मबोधक वचनों को देव, मनुष्य, पशु तथा अन्य जीव अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं । वे ऐसा समझते हैं कि भगवान् हमारी ही भाषा में बोल रहे हैं । भगवान् जिस-जिस क्षेत्र में विचरते हैं, उस-उस स्थल से सौ योजन-प्रमाण क्षेत्र में उनके प्रभाव से महारोग वैसे ही शान्त हो जाते हैं, जैसे चन्द्र के उदय से गर्मी शान्त हो जाती है । जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नहीं रहता है, वैसे ही भगवान् जहाँ विचरते हैं,

वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध, वैर आदि उपद्रव नहीं रहते ।।२४-३०।।

मार्तण्डमण्डलश्रीविडम्बिभामण्डलं विभोः परितः ।
आविर्भवत्यनुवपुः प्रकाशयत् सर्वतोऽपि दिशः ।।३१।।
सञ्चारयन्ति विकचान्यनुपादन्यासमाशु कमलानि ।
भगवति विहरति तस्मिन् कल्याणी-भक्तयो देवाः ।।३२।।
अनुकूलो वाति मरुत्, प्रदक्षिणं यान्त्यमुष्य शकुनाश्च ।
तरवोऽपि नमन्ति भवन्त्यधोमुखाः कण्टकाश्च तदा ।।३३।।
आरक्तपल्लवोऽशोकपादपः स्मेरकुसुमगन्धाढ्यः ।
प्रकृतस्तुतिरिव मधुकरविरुतैर्विलसत्युपरि तस्य ।।३४।।
षडपि समकालमृतवो, भगवन्तं तं तदोपतिष्ठन्ते ।
स्मरसाहाय्यककरणे, प्रायश्चित्तं ग्रहीतुमिव ।।३५।।
अस्य पुरस्तात् निनदन्, विजृम्भते दुन्दुभिर्नभसि तारम् ।
कुर्वाणो निर्वाणप्रयाण-कल्याणमिव सद्यः ।।३६।।
पञ्चापि चेन्द्रियार्थाः, क्षणान्मनोज्ञी भवन्ति तदुपान्ते ।
को वा न गुणोत्कर्षं, सविधे महतामवाप्नोति ? ।।३७।।
अस्य नखा रोमाणि च, वर्धिष्णून्यपि न हि प्रवर्धन्ते ।
भवशतसञ्चितकर्मच्छेदं दृष्ट्ववै भीतानि ।।३८।।
शमयन्ति तदभ्यर्णे, रजांसि गन्धजलवृष्टिभिर्देवाः ।
उन्निद्रकुसुमवृष्टिभिरशेषतः सुरभयन्ति भुवम् ।।३९।।
छत्रत्रयी पवित्रा विभोरुपरि भक्तितस्त्रिदशराजैः ।
गङ्गास्त्रोतस्त्रितयीव, धार्यते मण्डलीकृत्य ।।४०।।

अर्थ - श्री तीर्थंकर भगवान् के शरीर के अनुरूप चारों ओर सूर्यमण्डल की प्रभा को भी मात करने वाला और सर्वदिशिओं को प्रकाशित करने वाला भामण्डल प्रकट होता है । भगवान् जब पृथ्वीतल पर विहार करते हैं, तब कल्याणकारिणी भक्ति वाले देव तत्काल प्रभु के प्रत्येक चरण रखने के स्थान पर स्वर्णमय कमल स्थापित करते हैं। तथा वायु अनुकूल चलता है । पक्षी भगवान् की प्रदक्षिणा दाहिनी ओर से देते हैं, वृक्ष भी झुक जाते हैं, उस समय कांटों के मुख नीचे की ओर हो जाते हैं । लालिमायुक्त पत्ते तथा खिले हुए फूलों की सुगन्ध से व्यापत अशोकवृक्ष, जो भौंरो के गुंजन से मानो स्वाभाविक स्तुति करता है एवं भगवान् पर छाया करता हुआ सुशोभित होता है । कामदेव की सहायता करने के अपने पाप का मानो प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए एक ही साथ छहों ऋतुएँ उस समय प्रभु के समीप उपस्थित होती हैं । उस समय देवदुंदुभि भी उनके सामने आकाश में जोर से घोषणा करती हुई प्रकट होती है, मानो वह भगवान् के शीघ्र निर्वाण के हेतु प्रयाण कल्याणक मना रही हो । भगवान् के पास पाँचों इन्द्रियों के प्रतिकूल विषय भी क्षणभर में मनोहर बनकर अनुकूल बन जाते हैं, क्योंकि महापुरुषों के संपर्क से किसके गुणों में वृद्धि नही होती ? सभी की होती है । केश, नख आदि का स्वभाव बढ़ने का है, किन्तु सैकड़ों भवों के संचित कर्मो का छेदन

देखकर वे भयभीत होकर बढ़ने का साहस नहीं करते । भगवान् के आसपास सुगन्धित जल की वृष्टि करके देव धूल को शान्त कर देते हैं और खिले हुए पुष्पों की वर्षा से समग्र भूमि को सुरभित कर देते हैं । इन्द्र भक्ति से मण्डलाकार के तीन छत्र भगवान् पर धारण करते हैं, मानो वे गंगानदी के मण्डलाकार तीन स्रोत किये हुए धारण हों ॥३१-४०॥

अयमेक एव नः प्रभुरित्याख्यातु बिडोजसोन्नमितः ।
अङ्गुलिदण्ड इवोच्चैश्चकास्ति रत्नध्वजस्तस्य ॥४१॥
अस्य शरदिन्दुदीधितिचारूणि च चामराणि धूयन्ते ।
वदनारविन्दसम्पाति-राजहंसभ्रमं दधति ॥४२॥
प्राकारास्त्रय उच्चैः, विभान्ति समवसरणस्थितस्यास्य ।
कृतविग्रहाणि सम्यक्-चारित्रज्ञानदर्शनानीव ॥४३॥
चतुराशावर्तिजनान्, युगपदिवानुग्रहीतुकामस्य ।
चत्वारि भवन्ति मुखान्यङ्गानि च धर्ममुपदिशतः ॥४४॥
अभिवन्द्यमानपादः सुरासुरनरोरगैस्तदा भगवान् ।
सिंहासनमधितिष्ठति, भास्वानिव पूर्वगिरिश्रृङ्गम् ॥४५॥
तेजःपुञ्जप्रसरप्रकाशिताशेषदिक्क्रमस्य तदा ।
त्रैलोक्यचक्रवर्तित्व-चिह्नमग्रे भवति चक्रम् ॥४६॥
भुवनपति-विमानपति-ज्योतिपति-वानमन्तराः सविधे ।
तिष्ठन्ति समवसरणे, जघन्यतः कोटिपरिमाणाः ॥४७॥

अर्थ - यही एकमात्र हमारे स्वामी हैं इसे कहने के लिए मानो इन्द्र ने अपनी अंगुली ऊँची कर रखी हो, ऐसा रत्नजडित इन्द्रध्वज भगवान् के आगे सुशोभित होता है । भगवान् पर शरदऋतु की चन्द्र-किरणों के समान उज्ज्वल चामर ढुलाये जाते हैं, जब वे चामर मुखकमल पर आते हैं तो राजहंसों की-सी भ्रान्ति होती है । समवसरण में स्थित भगवान् के चारों तरफ स्थित ऊँचे तीन गढ़ (प्राकार) ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानों सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र ने तीन शरीर धारण किये हैं । जब भगवान् समवसरण में चारों दिशाओं में स्थित लोगों को धर्मोपदेश देने के लिए विराजमान होते हैं, तब भगवान के चार शरीर और चार मुख हो जाते हैं, मानो लोगों पर एक साथ उपकार करने की इच्छा से उन्होंने चारों दिशाओं में चार शरीर धारण किये हों। उनके चरणों में जिस समय सुर, असुर, मनुष्य और भवनपति देव आदि नमस्कार करते हैं, उस समय सिंहासन पर विराजमान भगवान् ऐसे मालूम होते हैं, मानो उदयाचल के शिखर पर सूर्य सुशोभित हो । उस समय अपने तेजःपुंज से समस्त दिशाओं के प्रकाशक भगवान् के आगे त्रैलोक्य धर्म-चक्रवर्तित्व का चिह्न रूप धर्मचक्र रहता है । भवनपति, वैमानिक, ज्योतिष्क और वाणव्यंतर, ये चारों निकायों के देव समवसरण में भगवान् के पास जघन्य-से एक करोड़

की संख्या में रहते हैं ॥४१-४७॥

तीर्थकरनामसञ्ज्ञं, न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात् ।
उत्पन्न-केवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम् ॥४८॥

अर्थ - जिनके तीर्थकर नामकर्म का उदय नहीं है, वे केवलज्ञानी भी योग के बल से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और आयुकर्म शेष रहता है, तो जगत के जीवों को धर्मोपदेश भी देते हैं, और आयुकर्म शेष न हो तो निर्वाणपद प्राप्त करते हैं ॥४८॥

सम्पन्नकेवलज्ञान-दर्शनोऽन्तर्मुहूर्त-शेषायुः ।
अर्हति योगी ध्यानं, तृतीयमपि कर्तुमचिरेण ॥४९॥

अर्थ - केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद जब योगी का आयुष्य अन्त र्मुहूर्त शेष रहता है, तब वे शीघ्र ही सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रारम्भ करते हैं ॥४९॥

आयुः कर्मसकाशाद्, अधिकानि स्युर्यदाऽन्यकर्माणि ।
तत्साम्याय तदोपक्रमेत योगी समुद्घातम् ॥५०॥

अर्थ - यदि आयुष्य-कर्म की अपेक्षा अन्य नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है तो उसे बराबर करने के लिए योगी केवली-समुद्घात करते हैं ॥५०॥

दण्ड-कपाटे मंथानकं च समयत्रयेण निर्माय ।
तुर्ये समये लोकं, निःशेषं पुरयेद् योगी ॥५१॥

अर्थ - योगी तीन समय में दण्ड, कपाट और मंथानी

बनाकर अपने आत्मप्रदेशों को फैला देता है, और चौथे समय में बीच के अन्तरों को पूरित कर समग्र लोक में व्याप्त हो जाता है ॥५१॥

समयैस्ततश्चतुर्भिर्निवर्तते लोकपूरणादस्मात् ।
विहितायुः समकर्मा, ध्यानी प्रतिलोममार्गेण ॥५२॥

अर्थ - चार समय में समग्र लोक में आत्मप्रदेशों को व्याप्त करके अन्य कर्मों को आयुकर्म के समान करके ध्यानी मुनि प्रतिलोम-क्रम से लोकपूरित कार्य को समेटते हैं ॥५२॥

श्रीमानचिन्त्यवीर्यः शरीरयोगेऽथ बादरे स्थित्वा ।
अचिरादेव हि निरुणद्धि, बादरो वाङ्मनः-सयोगौ ॥५३॥
सूक्ष्मेण काययोगेन, काययोगं स बादरं रून्ध्यात् ।
तस्मिन् अनिरुद्धे सति, शक्यो रोद्धुं न सूक्ष्मतनुयोगः ॥५४॥
वचन-मनोयोग-युगं सूक्ष्मं निरुणद्धि सूक्ष्मात्तनुयोगात् ।
विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमतिसूक्ष्मतनुयोगम् ॥५५॥

अर्थ - केवलज्ञानादिक लक्ष्मी तथा अचिन्तनीय शक्ति से युक्त वह योगी बादर काययोग का अवलम्बन लेकर बादर वचनयोग और मनोयोग को शीघ्र ही रोक लेता है, फिर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकता है, क्योंकि बादर काययोग का निरोध किये बिना सूक्ष्म काययोग का निरोध नहीं हो सकता है । तदनन्तर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचन और सूक्ष्म मनोयोग का निरोध

करते हैं । उसके बाद सूक्ष्मकाययोग से सहित सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति नाम का ध्यान करते हैं, ॥५३-५५॥

तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमाविर्भवेदयोगस्य ।
अस्यान्ते क्षीयन्ते त्वघातिकर्माणि चत्वारि ॥५६॥

अर्थ - उसके बाद अयोगी केवली बनकर वे समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान प्रकट करते हैं । इससे समस्त क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं । इसके अन्त में चार अघातिकर्मों का क्षय हो जाता है ॥५६॥

लघुवर्णपञ्चकोद्गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम् ।
क्षपयति युगपत् परितो, वेद्यायुर्नामगोत्राणि ॥५७॥

अर्थ - तदनन्तर 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पाँच ह्रस्व-स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय तक में शैलेशी अवस्था अर्थात् मेरुपर्वत के समान निश्चल दशा प्राप्त करके एक साथ वे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म को मूल से क्षय कर देते हैं ॥५७॥

औदारिक-तैजस-कार्मणानि संसारमूलकरणानि ।
हित्वेह ऋजुश्रेण्या समयेनैकेन याति लोकान्तम् ॥५८॥

अर्थ - संसार के मूलकारणभूत औदारिक, तैजस, और कार्मण रूप शरीरों का त्याग करके विग्रह-रहित ऋजुश्रेणी से दूसरे आकाशप्रदेश को स्पर्श किये बिना एक समय में

(दूसरे समय का स्पर्श किये बिना) लोक के अन्तभाग में सिद्धक्षेत्र में साकार-उपयोगसहित आत्मा पहुंच जाती है ॥५८॥

नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि वा नैव गौरवाभावात् ।
योग-प्रयोग-विगमात् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥५९॥

अर्थ - सिद्धात्मा लोक से ऊपर अलोकाकाश में नहीं जाता, क्योंकि जैसे मछली की गति में सहायक जल है, वैसे ही जीव की गति में सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है, वह लोकान्त के ऊपर नहीं होने से जीव आगे नहीं जा सकता, तथा वह आत्मा नीचे भी नहीं जाती, क्योंकि उसमें गुरुता नहीं है और कायादि योग और उसकी प्रेरणा, इन दोनों का अभाव होने से तिरछा भी नहीं जाता है ॥५९॥

लाघवयोगाद् धूमवदलाबुफलवच्च सङ्गविरहेण ।
बन्धनविरहादेरण्डवच्च सिद्धस्य गतिरूर्ध्वम् ॥६०॥

अर्थ - सिद्ध परमात्मा के जीव (आत्मा) की लघुताधर्म के कारण धुँए के समान ऊर्ध्वगति होती है तथा संग रहित होने से तथाविध परिमाण से ऊपर ही जाता है । जैसे तुम्बे पर संयोग रूप मिट्टी के आठ लेप किये हों तो उसके वजनदार हो जाने से मिट्टी के संग से वह जल में डूब जाता है, परन्तु पानी के संयोग से क्रमशः लेप दूर हो जाता

है, तब वह तुम्बा हलका हो जाने पर पानी के ऊपर स्वाभाविक रूप से अपने आप आ जाता है, उसी प्रकार कर्मलेप से मुक्त जीव भी अपने आप लोकान्त तक पहुंच जाता है। कोश से मुक्त एरण्ड का बीज ऊपर की ओर जाता है, वैसे ही कर्मबन्ध से मुक्त सिद्ध की ऊर्ध्वगति होती है ॥६०॥

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधं स्वभावजं सौख्यम् ।
प्राप्य सकेवलज्ञानदर्शनो मोदते मुक्तः ॥६१॥

अर्थ – केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त सिद्धात्मा सर्वकर्मो से मुक्त होकर सादि-अनंत अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक पैदा होने वाले आत्मिक सुख को प्राप्त कर उसी में मग्न रहते हैं ॥६१॥

●●●

१२. द्वादशम प्रकाश

श्रुतसिन्धोर्गुरु मुखतो, यदधिगतं तदिह दर्शितं सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानीं, प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥१॥

अर्थ – श्रुतज्ञान रूपी समुद्र से तथा गुरुमुख से मैंने जो कुछ जाना या सुना है, वह सम्यक् प्रकार से बता दिया। अब मैं अपने निजी अनुभव से सिद्ध योग-विषयक निर्मल तत्त्व को प्रकाशित करूँगा ॥१॥

इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च ।
चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञ-चमत्कारकारि भवेत् ॥२॥

अर्थ – योगाभ्यास के अधिकार में चित्त चार प्रकार का है – १. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन और ४. सुलीनमन, ये चित्त के चार प्रकार हैं, जो इस विषय के जानकार के लिए चमत्कार जनक होते हैं ॥२॥

विक्षिप्तं चलमिष्टं, यातायातं च किमपि सानन्दम् ।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि, विकल्पविषयग्रहं तत् स्यात् ॥३॥

अर्थ – विक्षिप्त चित्त चंचल रहता है, वह इधर-उधर भटकता रहता है। यातायात चित्त कुछ आनन्ददायक है, वह कभी बाहर चला दाता है कभी अन्दर स्थित रहता है। प्राथमिक अभ्यास करने वालों के चित्त की ये दोनों स्थितियाँ होती हैं। अर्थात् पहले चित्त में चंचलता रहती है, फिर अभ्यास करने से धीरे-धीरे चंचलता के साथ स्थिरता आने लगती है। दोनों प्रकार के ये चित्त विकल्प के साथ

बाह्य पदार्थों के ग्राहक भी होते हैं ॥३॥

श्लिष्टं स्थिरसानन्दं, सुलीनमतिनिश्चलं परानन्दम् ।
तन्मात्रकविषयग्रहम् उभयमपि बुधैस्तदाम्नातम् ॥४॥

अर्थ – श्लिष्ट नामक तीसरा मन स्थिरतायुक्त और आनन्दमय होता है और जब वही मन अत्यन्त स्थिर हो जाता है, तब परमान्दमय होता है, वही चौथा सुलीन मन कहलाता है। ये दोनों मन अपने-अपने योग्य विषय को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु ये बाह्य-पदार्थ को ग्रहण नहीं करते। इसलिए पडितों ने नाम के अनुसार ही उनके गुण माने हैं ॥४॥

एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेत् निरालम्बम् ।
समरसभावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत् ॥५॥

अर्थ – इस प्रकार क्रमशः अभ्यास करते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से ध्याता निरालम्ब ध्यान तक पहुंच जाता है, इससे समरसभाव की प्राप्ति होती है, उसके बाद योगी परमानन्द का अनुभव करता है ॥५॥

बाह्यात्मानमपास्य, प्रसत्तिभाजाऽन्तरात्मना योगी ।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत् तन्मयत्वाय ॥६॥

अर्थ – आत्मसुखाभिलाषी योगी को चाहिए कि अन्तरात्मा बाह्यपदार्थ रूप बहिरात्मभाव का त्याग करके

परमात्म स्वरूप में तन्मय होने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे ॥६॥

आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा ।
कायादेः समाधिष्ठायको, भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥
चिद्रूपानन्दमयो, निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः ।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः, परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥८॥

अर्थ – शरीर, धन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि को आत्मबुद्धि (ममता की दृष्टि) से ग्रहण करने वाला बहिरात्मा कहलाता है। परन्तु, शरीर तो मेरे रहने का स्थान (घर) है, मैं उसमें रहने वाला स्वामी हूं। यह शरीर तो रहने के लिए किराये का घर है। 'इस प्रकार पुद्गल-स्वरूप सुख दुःख के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं करने वाला अन्तरात्मा कहलाता है। सत्ता से चिदानन्दमय (केवलज्ञान स्वरूप आनन्दमय) समग्र बाह्य उपाधि से रहित, स्फटिक के सदृश निर्मल, इन्द्रिय आदि से अगोचर और अनन्तगुणों से युक्त आत्मा को ज्ञानियों ने परमात्मा कहा है ॥७-८॥

पृथगात्मानं कायात् पृथक् च विद्यात् सदात्मनः कायम् ।
उभयोर्भेदज्ञाताऽऽत्मनिश्चये न स्खलेद् योगी ॥९॥

अर्थ – आत्मा को शरीर से भिन्न तथा शरीर को सदा आत्मा से भिन्न जानना चाहिए इन दोनों के भेद का ज्ञाता योगी आत्म स्वरूप के निश्चय करने में विचलित नहीं होता ॥९॥

तान्यध्यारोप्यात्मनि साक्षिण्यास्ते सुखेन जडबुद्धिः ।
व्यक्तारोपः सम्यक् प्राप्नोति पुनः पदं परमम् ॥१०॥

अर्थ – जडबुद्धिवाला मनुष्य कायादि को आत्मा के साक्षी का आरोपण करके सुख से रहता है और ज्ञानी अच्छे तरीके से आरोपण को प्रकट करके परमपद को प्राप्त करते है ॥१०॥

अन्तःपिहितज्योतिः, सन्तुष्यत्यात्मनोऽन्यतो मूढः ।
तुष्यत्यात्मन्येव हि बहिर्निवृत्तभ्रमो ज्ञानी ॥११॥

अर्थ – जिसकी आत्मज्योति कर्मों से ढक गई है, वह मूढ़ जीव आत्मा से भिन्न पुद्गलों (पदार्थों) में सन्तोष मानता है। परन्तु बाह्य पदार्थों में सुख की भ्रान्ति से निवृत्त ज्ञानी (योगी) अपने आत्म स्वरूप में ही आनन्द मानता है ॥११॥

पुंसामयत्नलभ्यं ज्ञानवतामव्ययं पदं नूनम् ।
यद्यात्मन्यात्मज्ञानमात्रमेते समीहन्ते ॥१२॥

अर्थ – यदि वे आत्मा में सिर्फ आत्मज्ञान की ही चेष्टा करते हैं और किसी अन्य पदार्थों का विचार भी नहीं करते हैं तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि उन ज्ञानी पुरुषों को अनायास ही निर्वाणपद प्राप्त हो सकता है ॥१२॥

श्रूयते सुवर्णभावं, सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम् ।
आत्मध्यानादात्मा, परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥१३॥

अर्थ – सुनते है कि – जैसे सिद्ध रस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, उसी तरह आत्मा का ध्यान करने

से आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥१३॥

जन्मान्तरसंस्कारात् स्वयमेव किल प्रकाशते तत्त्वम् ।
सुप्तोत्थितस्य पूर्वप्रत्ययवत् निरुपदेशमपि ॥१४॥

अर्थ – जैसे निद्रा से जागृत हुए मनुष्य को पहले अनुभव किया हुआ कार्य दूसरे के कहे बिना, स्वयमेव याद आ जाता है, वैसे ही योगी पुरुष को पूर्व जन्म-जन्मांतर के संस्कारों से उपदेश के बिना स्वतः ही तत्त्व प्रकाशित हो जाता है ॥१४॥

अथवा गुरुप्रसादादिहैव तत्त्वं समुन्मिषति नूनम् ।
गुरुचरणोपास्तिकृतः, प्रशमजुषः शुद्धचित्तस्य ॥१५॥

अर्थ – अथवा पूर्व जन्म के संस्कार के बिना ही गुरु-चरणों के उपासक प्रशम-रस संपन्न निर्मलचित्त साधक को गुरु-कृपा से अवश्य ही आत्मज्ञान स्फुरित हो जाता है ॥१५॥

तत्र प्रथमे तत्त्वज्ञाने, संवादको गुरुर्भवति ।
दर्शयिता त्वपरस्मिन्, गुरुमेव सदा भजेत्तस्मात् ॥१६॥

अर्थ – पूर्वजन्म में प्रथम तत्त्वज्ञान का उपदेष्टा गुरु ही होता है और दूसरे जन्म में भी तत्त्वज्ञान बताने वाला भी गुरु ही होता है । इसलिए सदा गुरु महाराज की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए ॥१६॥

यद्वत् सहस्रकिरणः प्रकाशको निचिततिमिरमग्नस्य ।
तद्वद् गुरुरत्र भवेदज्ञान-ध्वान्त-पतितस्य ॥१७॥

अर्थ – जैसे अतिगाढ़ अन्धकार में स्थित पदार्थ को सूर्य प्रकाशित कर देता है, वैसे ही अज्ञान-रूपी अन्धकार में भटकते हुए आत्मा को इस संसार में (तत्त्वोपदेश देकर) गुरु ज्ञान ज्योति प्रकाशित कर देता है ॥१७॥

प्राणायाम-प्रभृति-क्लेशपरित्यागतस्ततो योगी ।
उपदेशं प्राप्य गुरोः, आत्माभ्यासे रतिं कुर्यात् ॥१८॥

अर्थ – अतः प्राणायाम आदि क्लेश कर उपायों का त्याग करके योगी गुरु का उपदेश प्राप्त कर आत्म स्वरूप के अभ्यास में ही मग्न रहे ॥१८॥

वचन-मनःकायानां, क्षोभं यत्नेन वर्जयेत् शान्तः ।
रसभाण्डमिवात्मानं सुनिश्चलं धारयेत् नित्यम् ॥१९॥

अर्थ – मन, वचन और काया की चंचलता का प्रयत्न पूर्वक त्याग करके योगी को रस से भरे बर्तन की तरह आत्मा को स्थिर और शान्त बनाकर सदा अतिनिश्चल रखना चाहिए ॥१९॥

औदासीन्यपरायण-वृत्तिः किञ्चिदपि चिन्तयेन्नैव ।
यत् सङ्कल्पाकुलितं चित्तं नासादयेत् स्थैर्यम् ॥२०॥

अर्थ – बाह्यपदार्थों के प्रति उदासीनभाव रखने वाले योगी को इस प्रकार का किंचित् भी चिन्तन नहीं करना चाहिए, जिससे मन संकल्प-विकल्पों से आकुल-व्याकुल होकर स्थिरता प्राप्त न करे ॥२०॥

यावत् प्रयत्नलेशो, यावत् सङ्कल्पकल्पना काऽपि ।
तावन्न लयस्यापि, प्राप्तिस्तत्त्वस्य का तु कथा ? ॥२१॥

अर्थ – जब तक मन-वचन-काय-योग से सम्बन्धित कुछ भी प्रयत्न विद्यमान है और जब तक संकल्प युक्त कुछ भी कल्पना मौजूद है, तब तक लय (तन्मयता) की प्राप्ति नहीं होगी, तत्त्वप्राप्ति की तो बात ही क्या है ? ॥२१॥

यदिदं तदिति न वक्तुं, साक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त ! शक्येत ।
औदासीन्यपरस्य, प्रकाशते तत् स्वयं तत्त्वम् ॥२२॥

अर्थ – 'यह वह परमात्मतत्त्व है' यों तो साक्षात् गुरु भी कहने में समर्थ नहीं है। उदासीनभाव में तल्लीन बने हुए योगी को वह परमात्मतत्त्व स्वयमेव प्रकाशित होता है ॥२२॥

एकान्तेऽतिपवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीनः ।
आचरणाग्रशिखाग्रतः शिथिलीभूताखिलावयवः ॥२३॥
रूपं कान्तं पश्यन्नपि, शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम् ।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि, भुञ्जानो रसान् स्वादून् ॥२४॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम् ।
परिकलितौदासीन्यः, प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम् ॥२५॥
बहिरान्तश्च समन्तात्, चिन्ता-चेष्टापरिच्युतो योगो ।
तन्मयभावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनीभावम् ॥२६॥

अर्थ – अतिपवित्र, एकान्त और रमणीय स्थल में सदा पैर के अंगूठे से लेकर चोटी के अग्रभागपर्यन्त समस्त अवयवों को शिथिल करके लम्बे समय तक बैठ सके, ऐसे ध्यान के अनुरूप किसी भी सुखासन से बैठे। ऐसी दशा में मनोहर रूप को देखता हुआ भी, मधुर मनोज्ञ वाणी को

सुनता हुआ भी, सुगन्धित पदार्थों को सूंघता हुआ भी, स्वादिष्ट रस का आस्वाद करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी और मन की वृत्ति न रोकता हुआ भी उदासीनता (निर्ममत्वभाव) से युक्त, नित्य विषया-सक्ति-रहित तथा बाह्य और आन्तरिक समस्त चिन्ताओं एवं चेष्टाओं से रहित योगी तन्मयभाव बनकर अत्यन्त उन्मनीभाव को प्राप्त करता है ॥२३-२६॥

गृह्णन्ति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीन्द्रियाणि नो रुध्यात् ।
न खलु प्रवर्तयेद् वा, प्रकाशते तत्त्वमचिरेण ॥२७॥

अर्थ - इन्द्रियाँ अपने-अपने ग्राह्य विषयों का ग्रहण करती हैं। उन्हें न तो रोके और न उन्हें विषय में प्रवृत्त करे। ऐसा करने से अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है ॥२७॥

चेतोऽपि यत्र यत्र, प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम् ।
अधिकीभवति हि वारितमवारितं शान्तिमुपयाति ॥२८॥
मत्तो हस्ती यत्नात् निवार्यमाणोऽधिकीभवति यद्वत् ।
अनिवारितस्तु कामान्, लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत् ॥२९॥

अर्थ - मन भी जिस-जिस विषय में प्रवृत्ति करता हो, उससे उसे बलात् नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि बलात् रोका गया मन उस और अधिक दौड़ने लगता है, और नहीं रोकने से वह शान्त हो जाता है । जैसे मदोन्मत हाथी को प्रयत्नपूर्वक रोकने से वह अधिक उन्मत्त हो जाता है और उसे न रोका जाय तो वह अपने इष्ट विषयों को प्राप्त कर

शान्त हो जाता है। इस प्रकार मन भी उसी तरह की विषय-प्राप्ति से शान्त हो जाता है ॥२८-२९॥

यर्हि यथा यत्र यतः, स्थिरीभवति योगिनश्चलश्चेतः ।
तर्हि तथा तत्र ततः, कथञ्चिदपि चालयेन्नैव ॥३०॥
अनया युक्तयाऽभ्यासं विदधानस्यातिलोलमपि चेतः ।
अङ्गुल्यग्रस्थापितदण्ड इव स्थैर्यमाश्रयति ॥३१॥

अर्थ - जब, जिस प्रकार, जिस स्थान में और जिससे योगी का चंचल चित्त निश्चल रहे, तब, उसी प्रकार, उसी जगह और निमित्त से उसे तनिक भी चलायमान नहीं करना चाहिए । इस युक्ति से मनोनिरोध का अभ्यास करने से अतिचंचल मन भी अंगुली के अग्रभाग पर स्थापित किये हुए दण्ड के समान स्थिर हो जाता है ॥३०-३१॥

निःसृत्यादौ दृष्टिः संलीना यत्र कुत्रचित् स्थाने ।
तत्रासाद्य स्थैर्यं शनैः शनैर्विलयमाप्नोति ॥३२॥
सर्वत्रापि प्रसृता, प्रत्यग्भूता शनैः शनैर्दृष्टिः ।
परतत्त्वामलमुकुरे, निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम् ॥३३॥

अर्थ - सर्वप्रथम दृष्टि बाहर निकलकर किसी भी स्थान में संलीन हो जाती है, फिर वहाँ स्थिरता प्राप्त करके धीरे-धीरे वहाँ से विलयन हो जाती है । अर्थात् पीछे हट जाती है। इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई और वहाँ से धीरे-धीरे हटी हुई दृष्टि परमतत्त्व रूप स्वच्छ दर्पण में स्थिर होकर आत्मा को देखती है ॥३२-३३॥

औदासीन्यनिमग्नः, प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा ।
भावितपरमानन्दः, क्वचिदपि न मनो नियोजयति ॥३४॥
करणानि नाधितिष्ठन्त्युपेक्षितं चित्तमात्मना जातु ।
ग्राह्ये ततो निज-निजे, करणान्यपि न प्रवर्तन्ते ॥३५॥
नात्मा प्रेरयति मनो, न मनः प्रेरयति यर्हि करणानि ।
उभयभ्रष्टं तर्हि, स्वयमेव विनाशमाप्नोति ॥३६॥

अर्थ - निरन्तर उदासीनभाव में तल्लीन बना हुआ सर्वप्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्ददशा की भावना करने वाला योगी मन को कहीं भी नहीं लगाता । इस प्रकार आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देता है, तब वह इन्द्रियों का आश्रय नहीं करता । अर्थात् तब मन इन्द्रियों को विषयों में प्रेरित नहीं करता । इन्द्रियाँ भी मन की मदद के बिना अपने-अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती । जब आत्मा मन को प्रेरित नहीं करता और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता, तब दोनों तरफ से भ्रष्ट बना हुआ मन अपने आप ही विनष्ट हो जाता है ॥३४-३६॥

नष्टे मनसि समन्तात्, सकले विलयं च सर्वतो याते ।
निष्कलमुदेति तत्त्वं, निर्वातस्थायिदीप इव ॥३७॥

अर्थ - इस प्रकार मन का कार्य-कारणभाव या प्रेरक-प्रेर्यभाव चारों ओर से नष्ट होने पर, अर्थात् राख से ढकी हुई अग्नि के समान शान्त हो जाने पर और चिन्ता, स्मृति आदि उसके सभी व्यापार जलप्रवाह में बहते हुए अग्निकण के

समान विलय (क्षय) हो जाने पर वायु-रहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान आत्मा में कर्ममल से रहित निष्कलंक तत्त्वज्ञान प्रकट होता है ॥३७॥

शल्यीभूतस्यान्तः करणस्य क्लेशदायिनः सततम् ।
अमनस्कतां विनाऽन्यद्विशल्यकरणौषधं नास्ति ॥३८॥

अर्थ - निरंतर क्लेश देनेवाला शल्यभूत अन्तःकरण को शल्यरहित करने के लिए अमनस्कता के सिवाय अन्य कोई औषधि नहीं है ॥३८॥

अङ्गमृदुत्व-निदानं, स्वेदन-मर्दन-विवर्जनेनापि ।
स्निग्धीकरणमतैलं, प्रकाशमानं हि तत्त्वमिदम् ॥३९॥

अर्थ - पहले कहे अनुसार जब तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाता है, तब पसीना न होने पर और अंग-मर्दन न करने पर भी शरीर कोमल हो जाता है, तेल की मालिश के बिना ही शरीर चिकना हो जाता है, यह तत्त्वज्ञान प्रकट होने की निशानी है ॥३९॥

अमनस्कतया सञ्जायमानया नाशिते मनःशल्ये ।
शिथिलीभवति शरीरं, छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा ॥४०॥

अर्थ - मन का शल्य नष्ट हो जाने से, मनोरहित उन्मनीभाव उत्पन्न होने पर तत्त्वज्ञानी का शरीर छाते के समान स्तब्धता (अकड़ाई) को छोडकर शिथिल होता है ॥४०॥

कदलीवच्चाविद्या, लोलेन्द्रियपत्रला मनःकन्दा ।
अमनस्कफले दृष्टे, नश्यति सर्वप्रकारेण ॥४१॥

अर्थ – अविद्या केले के पौधे के समान है, चंचल इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं, मन रूपी उसका कन्द है। जैसे उसमें फल दिखायी देने पर केले के पेड़ को नष्ट कर दिया जाता है, क्योंकि उसमें पुनः फल नहीं आते, उसी प्रकार उन्मनीभाव रूपी फल दिखाई देने पर अविद्या भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, इसके बाद दूसरे कर्म लगते नहीं हैं ॥४१॥

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्मं, दुर्लक्ष्यं वेगवत्तया चेतः।
अश्रान्तमप्रमादाद्, अमनस्कशलाकया भिन्द्यात् ॥४२॥

मन अतिचंचल, अतिसूक्ष्म और तीव्र वेगवाला होने के कारण उसे रोककर रखना अतिकठिन है, अतःमन को विश्राम दिये बिना प्रमादरहित होकर अनमस्कता रूपी शलाका से उसका भेदन करना चाहिए ॥४२॥

विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम्।
अमनस्कोदय-समये, योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥४३॥

अर्थ – अमनस्कता उदय हो जाने के समय योगी यह अनुभव करने लगता है कि मेरा शरीर पारे के समान बिखरा हुआ है, जलकर भस्म हो गया है, उड़ गया है, पिघल गया है और अपना शरीर अपना नहीं (असत्कल्प) है ॥४३॥

समदैरिन्द्रियभुजगै रहिते विमनस्क-नवसुधाकुण्डे।
मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादमसमानम् ॥४४॥

अर्थ – मदोन्मत्त इन्द्रिय रूपी सर्पो से मुक्त होकर योगी उन्मनभाव रूप नवीन अमृतकुण्ड में मग्न होकर योगी अनुपम

और उत्कृष्ट तत्त्वामृत के स्वाद का अनुभव करता है ॥४४॥

रेचक-पूरक-कुम्भक-करणाभ्यासक्रमं विनाऽपि खलु।
स्वयमेव नश्यति मरुद्, विमनस्के सत्ययत्नेन ॥४५॥

अर्थ – अमनस्कता की प्राप्ति हो जाने पर रेचक, पूरक, कुम्भक और आसनों के अभ्यास क्रम के बिना भी अनायास ही वायु स्वयमेव नष्ट हो जाती है ॥४५॥

चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव।
सत्यमनस्के तिष्ठति, स समीरस्तत्क्षणादेव ॥४६॥

अर्थ – जिस वायु को चिरकाल तक अनेक प्रयत्नों से भी धारण नहीं किया जा सकता, उसी को अमनस्क होने पर योगी तत्काल एक जगह स्थिर कर देता है ॥४६॥

जातेऽभ्यासे स्थिरताम्, उदयति विमले च निष्कले तत्त्वे।
मुक्त इव भाति योगी समूलमुन्मूलितश्वासः ॥४७॥

इस उन्मनीभाव के अभ्यास में स्थिरता होने पर तथा निर्मल (कर्मजाल-रहित) अखण्ड तत्त्वज्ञान के उदय होने पर श्वासोच्छ्वास का समूल उन्मूलन करके योगी मुक्त पुरुष के समान प्रतीत होता है ॥४७॥

यो जाग्रदवस्थायां, स्वस्थः सुप्त इव तिष्ठति लयस्थः।
श्वासोच्छ्वास-विहीनः स हीयते न खलु मुक्तिजुषः ॥४८॥

अर्थ – जाग्रत-अवस्था में स्व-स्वरूप (आत्म-स्वरूप) में स्थित (स्वस्थ) योगी लय नामक ध्यान में सोये हुए व्यक्ति के समान स्थिर रहता है। श्वासोच्छ्वास-रहित

लयावस्था में वह योगी मुक्त आत्मा से जरा भी हीन नहीं होता, बल्कि सिद्ध के समान ही होता है ॥४८॥

जागरणस्वप्नजुषो, जगतीतलवर्तिनः सदा लोकाः ।
तत्त्वविदो लयमग्ना, नो जाग्रति शेरते नापि ॥४९॥

अर्थ – इस पृथ्वीतल पर रहने वाले जीव सदा जागरण और सुप्तदशा का अनुभव करते हैं, परन्तु लय में मग्न तत्त्वज्ञानी न जागते हैं, और न सोते हैं ॥४९॥

भवति खलु शून्यभावः, स्वप्ने विषयग्रहश्च जागरणे ।
एतद् द्वितयमतीत्यानन्दमयमवस्थितं तत्त्वम् ॥५०॥

अर्थ – तथा सुप्तदशा में निश्चय ही शून्यभाव होता है और जागृत-अवस्था में योगी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है, किन्तु तत्त्व की प्राप्ति होने के बाद इन दोनों अवस्थाओं से परे होकर वह आनन्दमय तत्त्व = लय में स्थित रहता है ॥५०॥

कर्माण्यपि दुःखकृते निष्कर्मत्वं सुखाय विदितं तु ।
न ततः प्रयतेत कथं, निष्कर्मत्वे सुलभमोक्षे ? ॥५१॥

अर्थ – कर्म दुःख के लिए हैं, अर्थात् दुःख का कारण अपने आप किये हुए कर्म हैं और कर्मरहित होना सुख के लिए हैं, यदि तुम इस तत्त्व को जानते हो तो सुलभ मोक्षमार्ग के लिए निष्कर्मत्व-प्राप्ति का प्रयत्न क्यों नहीं करते ? ॥५१॥

मोक्षोऽस्तु माऽस्तु यदि वा परमानन्दस्तु वेद्यते स खलु ।
यस्मिन् निखिलसुखानि, प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव ॥५२॥

अर्थ – मोक्ष हो या न हो, परन्तु ध्यान से प्राप्त होने वाला परमानन्द तो यहाँ प्रत्यक्ष अनुभूत होता है । इस परमानन्द के प्राप्त होने पर जगत् के सभी सुख तृण के समान तुच्छ प्रतीत होते हैं ॥५२॥

मधु न मधुरं नैताः शीतास्त्विषस्तुहिनद्युते,
अमृतममृतं नामैवास्याः फले तु मुधा सुधा ।
तदलममुना संरम्भेण प्रसीद सखे ! मनः,
फलमविकलं त्वय्येवैतत् प्रसादमुपेयुषि ॥५३॥

अर्थ – इस उन्मनीभाव के फल के सामने मधु मधुर नहीं लगता, चन्द्रमा की कान्ति भी शीतल नहीं प्रतीत होती, अमृत केवल नाममात्र का अमृत रह जाता है और सुधा का फल भी निष्फल ही हो जाता है । इसलिए हे मनमित्र ! तूं परिणाम में दुःख देने वाले प्रयास को बस कर । अब तूं मुझ पर प्रसन्न हो, क्योंकि अखण्ड परमानन्द-फल की प्राप्ति तेरे प्रसन्न होने पर ही निर्भर है ॥५३॥

सत्येतस्मिन्नरति-रतिदं गृह्यते वस्तुदूरा,
दप्यासन्नऽप्यसति तु मनस्याप्यते नैव किञ्चित् ।
पुंसामित्यप्यवगतवतामुन्मनीभावहेताविच्छा,
बाढं न भवति कथं सद्गुरुपासनायाम् ॥५४॥

अर्थ – जब तक मन की स्थिति विद्यमान है, तब तक अरति के कारण रूप व्याघ्र आदि और रति के कारण रूप स्त्री आदि वस्तुएँ दूर होने पर भी मन के द्वारा दुःख-सुख

ग्रहण किये जाते हैं और मन विद्यमान न हो, अर्थात् उन्मनीभाव हो जाने पर अरति या रति देने वाली वस्तु पास में हो, तो भी वह दु:ख-सुख ग्रहण नहीं करता। सुख-दु:ख तो मनसम्बन्धी वृत्तियों पर आधारित है, विषयों की प्राप्ति से या विषय-भोग-से उत्पन्न होने वाले नहीं। अत: इस तत्त्व के ज्ञाता पुरुषों का उन्मनीभाव के कारणभूत सद्गुरु की उपासना करने की प्रबल अभिलाषा क्यों नहीं होगी ? अवश्यमेव होगी ॥५४॥

तांस्तानापरमेश्वरादपि परान् भावैः प्रसादं नयन्,
तैस्तैस्तत्तदुपायमूढ ! भगवन्नात्मन् ! किमायास्यसि ? ।
हन्तात्मानमपि प्रसादय मनाग् येनासतां सम्पदः,
साम्राज्यं परमेऽपि तेजसि तव प्राज्यं समुज्जृम्भते ॥५५॥

अर्थ - परमानन्द प्राप्त करने के यथार्थ उपायों से अनभिज्ञ मूढ़ ! भगवन् आत्मन् ! तूं इस परमात्मा को प्राप्त कर। अपरमेश्वर-रूप दूसरे किसी भी देव के पास जाकर इष्ट पदार्थ भेंट देकर, मनौती करके उनकी सेवा-पूजा-भक्ति आदि उपायों से धन, यश, विधा, राज्य, स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थो की प्रार्थना करके रोग, दरिद्रता, तुच्छ उपद्रव आदि अनर्थो से छुटकारा पाने की चाह से प्रेरित होकर अरे आत्मभगवन् ! अपने आपको क्यों परेशान करते हो ? अफसोस है, अपने आत्मदेव को भी तो जरा प्रसन्न कर, जिससे असत् पदार्थों की सम्पदाएँ छूटकर केवलज्ञान रूप

परमतेज के प्रकाश में तेरा विशाल साम्राज्य प्रकट हो ॥५५॥

यो शास्त्रात् सुगुरोमुखादनुभवाच्चा-
ज्ञायि किञ्चित् क्वचित् ।
योगस्योपनिषद्-विवेकपरिषच्चेतश्चमत्कारिणी ।
श्रीचौलुक्य-कुमारपाल-नृपतेरत्यर्थमभ्यर्थनाद्,
आचार्येण निवेशिता पथि गिरां श्रीहेमचन्द्रेण सा ॥५६॥

अर्थ - आगमों और अन्य शास्त्रों से तथा इनकी यथार्थ सुन्दर व्याख्या करने वाले गीतार्थ सुगुरु के मुखारविन्द से तथा मेरे अपने अनुभव से योग का जो अल्प रहस्य जानने में आया, वह योगरुचि वाले पण्डितों की परिषद् (सभा) के चित्त को चमत्कृत करने वाला होने से श्री चौलुक्यवंशीय कुमारपाल राजा की अत्यन्त प्रार्थना से आचार्यश्री हेमचन्द्र ने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ वाणी के मार्ग से प्रस्तुत किया है ॥५६॥

संप्रापि योगशास्त्रात्तद्विवृतेश्चापि यन्मया सुकृतम् ।
तेन जिनबोधिलाभप्रणयी भव्यो जनो भवतु ॥५७॥

अर्थ - योगशास्त्र से और उसकी वृत्ति से मैंने जो सुकृत प्राप्त किया हो तो उससे भव्यजन बोधि के लाभ की प्रीतिवाला बने ॥५७॥

• • •